श्रमण

ŚRAMAṆA



स्वर्णजयन्ती वर्ष

जनवरी - मार्च, १९९९ ई०



पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

PĀRŚVANĀTHA VIDYĀPĪṬHA, VARANASI.

श्रमण

पार्श्वनाथ विद्यापीठ की त्रैमासिक शोध-पत्रिका

वर्ष ५०, अंक 1-3 जनवरी - मार्च 1999

प्रकाशनार्थ लेख-सामग्री, समाचार, विज्ञापन एवं सदस्यता आदि के लिए सम्पर्क करें

सम्पादक

श्रमण

पार्श्वनाथ विद्यापीठ

आई० टी० आई० मार्ग करौंदी

पो० आ०-बी० एच० यू०

वाराणसी 221005 (उ० प्र०)

दूरभाष : 316521, 318046

फैक्स : 0542 - 318046

ISSN 0972-1002

वार्षिक सदस्यता शुल्क

संस्थाओं के लिए	:	रु० 150.00
व्यक्तियों के लिए	:	रु० 100.00
इस अंक का मूल्य	:	रु० 25.00

आजीवन सदस्यता शुल्क

संस्थाओं के लिए	:	रु० 1000.00
व्यक्तियों के लिए	:	रु० 500.00

नोट : सदस्यता शुल्क का चेक या ड्राफ्ट केवल पार्श्वनाथ विद्यापीठ के नाम से ही भेजें।

श्रमण

प्रस्तुत अंक में

लेख	पृष्ठ संख्या
भारतीय दर्शन में तनाव-अवधारणा के विविध रूप प्रो० सुरेन्द्र वर्मा	१-८
जैनयोग में अनुप्रेक्षा समणी मंगलप्रज्ञा	९-१५
जैन साहित्य और दर्शन में प्रभाचन्द्र का योगदान शिवाकान्त वाजपेयी	१६-२०
अजरामर स्वामी डॉ० रमणलाल जी शाह, अनु०- श्री भँवरलाल नाहटा	२१-२६
जोगरत्नसार (योगरत्नसार) श्रीमती डॉ० मुन्नी जैन	२७-४४
छन्द की दृष्टि से तित्थोगाली ..... अतुल कुमार प्रसाद सिंह	४५-५९
बीसवीं सदी के जैन आन्दोलन डॉ० कमलेश कुमार जैन	६०-७०
जैन विद्या के विकास के हेतु रचनात्मक कार्यक्रम दुलीचन्द्र जैन	७१-७८
साहु सरणं पवज्जामि डॉ० पानमल सुराणा	७९-८२
कांगड़ा के ऐतिहासिक किले .... श्री महेन्द्र कुमार 'मस्त'	८३-८४
एलोरा की जैन सम्पदा आनन्द प्रकाश श्रीवास्तव	८५-८७
तपागच्छ-विजयसंविग्न शाखा का इतिहास शिवप्रसाद	८८-१०६
नागपुरीयतपागच्छ का इतिहास शिवप्रसाद	१०७-१२१
The Image of Indian Etholohy Rajmal Jain	122-136
साहित्य सत्कार	१३७-१४९
जैन जगत	१५०-१५८
निबन्ध प्रतियोगिता	१५९-१६२

Composed at : Rajesh Computers, Jai Prakash Nagar, Vns. Ph. 220599

भारतीय दर्शन में तनाव-अवधारणा के विविध-रूप
(जैन-दर्शन के विशेष संदर्भ में)

डॉ० सुरेन्द्र वर्मा*

आधुनिक अर्थ में तनाव की अवधारणा, भारतीय संस्कृति और परंपरा में सहज रूप से नहीं देखी जा सकती; किंतु तनाव के लगभग-समानार्थक शब्द और मिलती-जुलती भावनाओं का संदर्भ हमें कई दर्शनों/दार्शनिकों में उपलब्ध है। चरक-संहिता, पातंजल-योगसूत्र, श्रीमद्भगवद्गीता इत्यादि कृतियों में तथा सांख्य, बौद्ध और जैन दर्शनों में तनाव शब्द का बिना उपयोग किए हुए, तनाव की ओर संकेत करने वाली अनेक अवधारणाएँ प्राप्त हो सकती हैं। दु:ख, क्लेश, भय इत्यादि अनेक भाव बहुत कुछ 'तनाव' के समानार्थक हैं। उदाहरण के लिए सर्वप्रथम हम 'क्लेश' को ही लें।

क्लेश

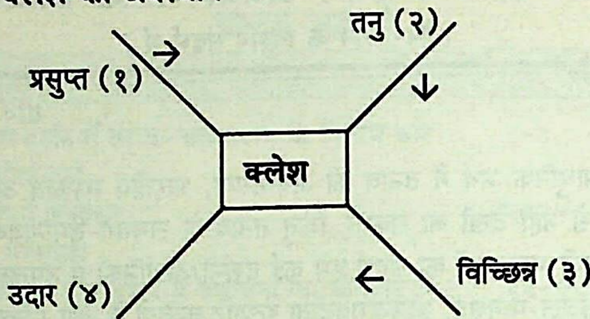
योग-दर्शन में क्लेश के क्षय के लिए क्रिया-योग बताया गया है।[१] यह क्लेश को दग्धकर, दग्ध-बीज के समान उसे शक्ति-हीन बना देता है। यह बहुत-कुछ 'स्ट्रेस एण्ड बर्नआउट'[२] की अवधारणा के समान है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि क्लेश एक ऐसा उद्दीपक (स्टिमुलस) है जो विपरीत मानसिक वृत्ति को जन्म देता है वह हमारी मानसिकता पर तनाव (या, दबाव-स्ट्रेस) की तरह एक बोझ के समान है। हमें यह कर्म करने के लिए रोकता है। यह एक अवरोध है जो मनोवैज्ञानिक रूप से उद्वेलित करता है।

क्लेश अनेक स्तरों पर अनेक प्रकार से काम करता है। योग-दर्शन में चार प्रकार के क्लेश बताए गए हैं। ये हैं- प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार।[३] प्रसुप्त वह क्लेश है जो बीज रूप में तनाव-क्षमता की तरह स्थित है। व्यक्ति या परिस्थितियाँ सदैव तनाव-युक्त नहीं रहतीं। कुछ मानसिक/सामाजिक स्थितियाँ तनाव के अनुकूल होती हैं। उनमें क्लेश पैदा करने की सामर्थ्य होती है। ऐसी स्थितियों को ही प्रसुप्त-क्लेश कहा गया है। तनु क्लेश जैसा नाम से स्पष्ट है, क्षीण-तनाव है। यह तनाव की दूसरी अवस्था है। इसमें तनाव स्पष्टत: उपस्थित तो है किन्तु उसकी प्रतिक्रियात्मक शक्ति अधिक नहीं है। विच्छिन्न क्लेश कुटिल क्लेश है। यह अन्योन्य विरोधी भावनाओं को जन्म देता है। क्लेश की अन्तिम अवस्था उदार है। विच्छिन्न क्लेश जबकि एक मनोवैज्ञानिक द्वन्द्व की स्थिति उत्पन्न कर व्यक्ति को तोड़ता है, उदार क्लेश व्यक्ति की मानसिकता में पूरी तरह व्याप्त हो जाता है। क्लेश की उत्तरोत्तर

---

*पूर्व उपनिदेशक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी।

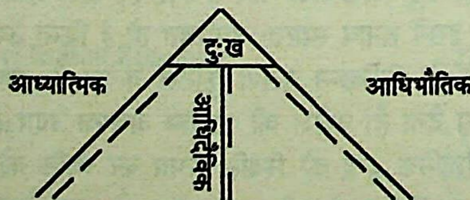
चित्र.१ - **क्लेश की अवस्थायें**



कठिन होती जा रही अवस्थाओं को निम्नलिखित चित्र द्वारा बताया जा सकता है।

दुःख

जिस प्रकार योग-दर्शन में हम तनाव के रूप में क्लेश की अवधारणा पाते हैं, उसी तरह सांख्य-दर्शन में दुःख व्यक्ति और उसके सांसारिक परिवेश के बीच परस्पर सम्बन्ध से उत्पन्न होता है। तनाव भी जैसा कि आधुनिक व्याख्याकारों का मत है अंततः कहीं न कहीं शक्ति-सम्बन्धों से जुड़ी हुई वस्तु ही है। श्रम-पूंजी सम्बन्ध, पारिवारिक सम्बन्ध, लिंग-भेद से उत्पन्न सम्बन्ध आदि ही तनाव को जन्म देते हैं।[४] सांख्य दर्शन में दुःख रूप में, ऐसे तीन प्रकार के तनावों का उल्लेख हुआ है- आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। आध्यात्मिक दुःख व्यक्तिगत तनाव है जो आंतर-वैयक्तिक सम्बन्धों (इण्ट्रापर्सनल रिलेशन्स) से उत्पन्न है। जब व्यक्ति के मन में दो विरोधी भावनाओं का द्वन्द्व होता है तो इससे आध्यात्मिक दुःख जन्म लेता है। आधिभौतिक दुःख व्यक्ति और अन्य प्राणियों (भूतों) के बीच परस्पर सम्बन्ध से उत्पन्न होता है। इसी प्रकार आधिदैविक दुःख वह तनाव है जो व्यक्ति (समाज) तथा तथाकथित दैवी प्रकोपों-जिन पर व्यक्ति का वश नहीं होता जैसे बाढ़, आँधी, भूचाल, और अन्य ऐसी ही विपदाएं आदि से जन्म लेता है। यदि आध्यात्मिक दुःख इण्ट्रापर्सनल है तो आधिभौतिक दुःख इण्टर्पर्सनल तथा अधिभौतिक दुःख को एन्वायरन्मैंटल (परिवेश सम्बन्धी) कहा जा सकता है।

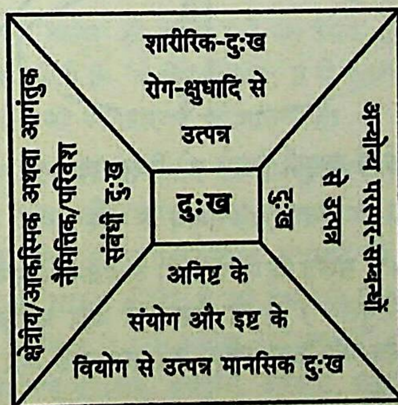


चित्र (२) दुःख के प्ररूप

सांख्य-दर्शन की भाँति जैन दर्शन में भी दुःख को लगभग तनाव की तरह ही प्रस्तुत किया गया है। यहाँ कहा गया है कि अनिष्ट के समागम और इष्ट के वियोग का नाम दुःख है- "अणिट्ठत्थ समागमो इट्ठत्थ वियोगो च दुःखणाम" (धवला)। शारीरिक, मानसिक आदि भेद से दुःख कई प्रकार का होता है। प्रायः शारीरिक (रोगादि से उत्पन्न) दुःख को ही दुःख माना जाता है, पर वास्तव में यह सबसे तुच्छ दुःख है। उससे ऊपर मानसिक (इष्ट का वियोग) और सबसे बड़ा स्वाभाविक ('सहज'- क्षुधादि से उत्पन्न होने वाला दुःख) होता है जो व्याकुलता रूप है। दुःख का व्याकुलता-रूप होना ही वस्तुतः दुःख को तनाव के समानार्थक बनाता है।

जैन दर्शन में एक स्थान पर दुःख के चार, बल्कि कहना चाहिए, पाँच प्रकार बताए गये हैं। इनमें से प्रथम प्रकार का दुःख 'असुर कुमारों' द्वारा दिया गया दुःख है। हम इसे अनदेखा कर सकते हैं। किंतु तनाव की दृष्टि से शेष चार प्रकार महत्त्वपूर्ण हैं।[५] ये हैं क्रमशः (१) शारीरिक-भौतिक दुःख-जो राग, क्षुधा आदि से तनाव उत्पन्न करते हैं। (२) मानसिक दुःख-जो कामनाओं की असंतुष्टि से व्याकुलता उत्पन्न करते हैं। (३) क्षेत्रीय दुःख-जो परिवेश सम्बन्धी कहे जा सकते हैं- जैसे शीत-वायु आदि से उत्पन्न कष्ट। इन्हें 'आकस्मिक', 'आगंतुक' या 'नैमित्तिक' भी कहीं-कहीं कहा गया है। (४) अन्योन्य दुःख-जो अंतर-वैयक्तिक और अंतर-सामाजिक सम्बन्धों से उत्पन्न हैं।

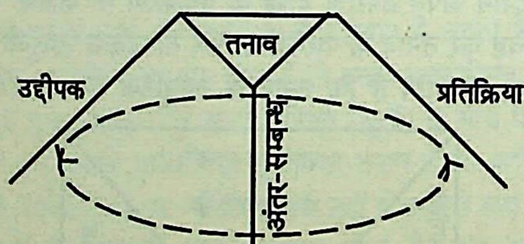
जैन दर्शन अपने उपरोक्त दुःख के वर्गीकरण में 'क्षेत्रीय' और 'अन्योन्य' दुःखों को समाविष्ट कर तनाव के परिवेशीय और सामाजिक पहलुओं पर विशेष बल देता है। यहाँ यह स्मरणीय है कि तनाव के आधुनिक व्याख्याकार भी तनाव की व्याख्या में क्षेत्रीय/सामाजिक दृष्टि को ही अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं।



चित्र- (३) जैन दर्शन में दुःख

चरक संहिता में तनाव को 'दोष' के रूप में समझा गया है। यहाँ वात, पित्त और कफ- ये तीन प्रकार के दोष बताए गए हैं। ये दोष तभी उत्पन्न होते हैं जब वातादि का उचित समन्वय नहीं रह पाता और यह तनाव की स्थिति व्यक्ति के स्वास्थ्य पर विपरीत बोझ दबाव डालती है। इस प्रकार ये दोष तनाव की ओर ही संकेत करते हैं। तनाव का व्यक्ति के स्वास्थ्य पर अनुकूल प्रभाव नहीं पड़ता-यह तथ्य आज पूर्णत: स्थापित हो चुका है। यदि यह तनाव शारीरिक-भौतिक है (जैसे, वात, पित्त, कफ के संतुलन में कमी आ जाना) तो भी और यह यदि अंतर-वैयक्तिक है, अथवा आध्यात्मिक है तो भी। इसी प्रकार जहाँ आध्यात्मिक तनाव घृणा, दु:ख, भय, ईष्या और अवसाद आदि की भावानात्मक प्रतिक्रियाओं के रूप में अभिव्यक्ति पाते हैं, वहीं आधिभौतिक तनाव अंतर्वैयक्तिक संघर्ष, स्पर्धा और आक्रमण जैसी व्यवहारगत प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न कर सकते हैं।

तनाव वस्तुत: (१) उद्दीपक (२) प्रतिक्रिया और (३) अंतर्क्रिया ये तीन रूपों में देखा जा सकता है।[६] उद्दीपक के रूप में तनाव मनोवैज्ञानिक/व्यवहारगत परिवर्तन उत्पन्न करता है; प्रतिक्रिया के रूप में वह भावनात्मक अनुभूति और आचरण संबंधी परिवर्तनों की ओर संकेत करता है तथा अंतर्क्रिया के रूप में वह दो या दो से अधिक भाव/व्यक्ति/समाज आदि के परस्पर असंतुलित संबंधों की ओर इंगित करता है। तनाव का यह विश्लेषण बेशक आधुनिक है, लेकिन तनाव के ये सभी रूप हमें



प्राचीन भारतीय साहित्य में बखूबी देखने को मिल सकते हैं।

चित्र (४) तनाव के रूप

जैसा कि चित्र में संकेत किया गया है। अंतर्क्रिया (अन्योन्य संबन्ध) के रूप में तनाव, उद्दीपक (स्टिमुलस') भी हो सकता है और प्रतिक्रिया भी। इसी प्रकार उद्दीपक के रूप में तनाव प्रतिक्रिया उत्पन्न कर सकता है और प्रतिक्रिया एक नया उद्दीपक भी बन सकती है।

उन भावनात्मक प्रतिक्रियाओं, जिन्हें सामान्यत: तनाव (स्ट्रेस) कहा गया है, का वर्णन कई प्रकार से किया गया है। इन्हें संशय, हताशा, संत्रास, चिन्ता,

तनाव, नैराश्य, संभ्रम, भय, अरक्षा, आदि नामों से पुकारा गया है।[७] मनोवैज्ञानिक इन अनुभूतियों को प्राय: पूरी तरह वैयक्तिक मानते हैं। हम यदि सूक्ष्म विवेचना करें तो ये सभी भावनाएँ हमें भारतीय दार्शनिक साहित्य में तनाव के अर्थ में मिल सकती हैं। निम्नलिखित पंक्तियों में हम 'हिंसा' और 'भय' इन दो अवधारणाओं का अध्ययन करेंगे।

हिंसा

आचारांग में तनाव का प्रधान कारक (स्ट्रेसर) हिंसा को माना गया है। हिंसा वह उद्दीपक है जो तनाव को उद्दीप्त करता है। इसके अनेक रूप और प्रकार हो सकते हैं। छेदन-भेदन से लेकर प्राण-वियोजन तक (छेत्ता, भेत्ता, हंता) सभी हिंसा के रूप हैं जिनसे प्राणियों को 'त्रास' (त्तास) पहुँचता है। हिंसा यदि तनाव उद्दीपक है तो त्रास उसकी प्रतिक्रियात्मक अनुभूति है। वे लोग जो इस तरह का त्रास देते हैं 'आतुर' कहे गए हैं। आतुर वह व्यक्ति है जो हिंसा से दु:खी और व्यग्र है। अपनी बीमार मानसिकता से ग्रसित ऐसे व्यक्ति प्राणियों को स्थान-स्थान पर परिताप देते हैं- 'तत्थ तत्थ पुढो पास, आतुरा परितावेंति'[८]। यदि हम आधुनिक शब्दावली में कहें तो आचारांग के अनुसार तनाव-युक्त पुरुष ही 'आतुर' है, प्राणियों को (तनाव की प्रतिक्रिया के रूप में) 'परिताप' देता है। पुरुष की आतुरता जहाँ तनाव कारक- 'स्ट्रेसर'-है, वहीं 'परिताप' प्रतिक्रियात्मक अनुभूति है जिसे तनाव के रूप में व्याख्यायित किया जा सकता है। उद्दीपक के रूप में 'आतुर प्राणी' और प्रतिक्रिया के रूप में 'परिताप'- ये हिंसा के ही दो रूप हैं। हिंसा इस प्रकार उद्दीपक भी है और प्रतिक्रिया भी। यही तनाव है।

हिंसा, हिंसक को 'आतुर' ही नहीं बनाती वह उसके आचरण को अहितकर और नासमझ (अबोध) बना देती है- 'तं से अहियाए, तं से अबोहिए'[९]। 'अहित' और 'अबोधि' हिंसा रूपी तनाव की व्यवहारगत परिणतियाँ हैं।

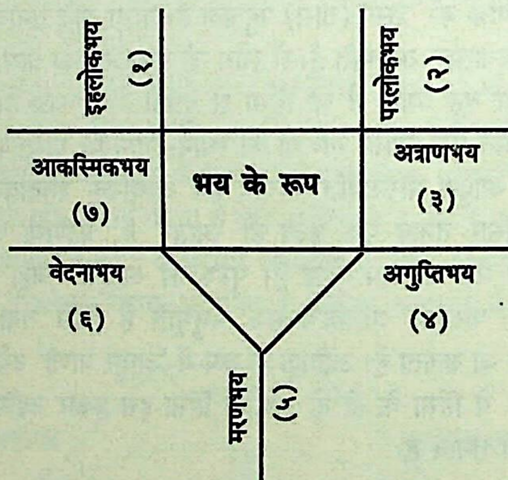
जहाँ तक हिंसा द्वारा निर्मित तनाव का अनुभूतिपरक पक्ष है उसे कई तरह से वर्णित किया गया है। 'त्रास' और 'परिताप' की अवधारणाएँ तो प्रस्तुत की ही गई हैं, आतंक भी हिंसात्मक तनाव की प्रतिक्रियात्मक अनुभूति है। आचारांग हमें हिंसा में 'अहित' के अतिरिक्त जो 'आतंक' निहित है उसे देखने के लिए भी आमंत्रित करता है- 'आतंक दंसी अहियं तिनिच्चा'[१०] इसी आतंक को 'महाभय' भी कहा गया है। कहा गया है कि हिंसा सभी प्राणियों के लिए 'अशांति, अस्वाद्य, महाभयंकर और दुखद' होती है- 'अस्सायं, अपरिणिव्वाणं, महाभयं, दुक्खं ति बेमि'[११]।

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि अहित, अबोधि, परिताप, आतंक, महाभय,

अशांति, अस्वाद्य, दुःख आदि सभी धारणाएं उद्दीपक और प्रतिक्रिया, तनाव के दोनों ही रूपों में समझी जा सकती हैं। अहित रूप में हिंसा अहित का उद्दीपक भी है और उसकी प्रतिक्रियात्मक अनुभूति भी है अथवा, कहें- आचरण संबंधी क्रिया-विशेषता भी है। यही बात अन्य धारणाओं के प्रति भी घटित होती है।

भय

भय भी तनाव की अनुभूति का एक वर्णन है और जैनदर्शन में इसकी विस्तृत विवेचना हुई है। भय को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि जिससे हृदय में उद्वेग होता है, वह भय है- 'यदुद्यादुद्वेगस्तत्भयम्'। भय को भीति भी कह सकते



हैं- 'भीतिर्भयं'। भय के सात भेद बताए गए हैं।[१२] 'इहपर-लोयत्ताणं अगुत्तिमरणं च वेयणाकस्मि भया'।

चित्र (५) भय के भेद

इहलोक-भय भय की वह आशंका है जिससे लोग व्यक्ति का कुछ बुरा कर सकते हैं। यह कुछ इस प्रकार का भय है इष्ट पदार्थ का मुझसे वियोग न हो जावे।

परलोक-भय अदृश्य का भय है। पता नहीं इस जीवन के बाद क्या होगा? परलोक का यही संशय सालता है।

अत्राण-भय वह है जिसमें व्यक्ति उस दुःखद अनुभूति से गुजरता है कि कहीं वे सभी वस्तुएँ जो सुरक्षा कर रही हैं, छीन न ली जाएं और व्यक्ति असुरक्षित रह जाए।

अगुप्ति-भय अनावृत हो जाने का भय है। चारों ओर से खुला प्रदेश इस प्रकार का भय उत्पन्न कर सकता है।

मृत्यु-भय जैसा नाम से ही स्पष्ट है, अपनी ही संभावित मृत्यु के सतत् चिंतन से होने वाला भय है।

वेदना-भय शरीर में वात पित्तादि के प्रकोप से आने वाली बाधा से उत्पन्न वेदना है। मोह के कारण विपत्ति के पहले ही करुण-क्रंदन वेदना-भय है। मैं निरोग हो जाऊँ, मुझे कभी पीड़ी न हो- इस प्रकार की मूर्च्छा-अथवा, बार-बार चिंतन-करना वेदना-भय है।

आकस्मिक-भय वे नैमित्तिक या क्षेत्रीय भय हैं जो परिवेश संबंधी किसी भी परिवर्तन से उत्पन्न होते हैं, जैसे, अभी तो मैं निरोगी हूँ किन्तु कोई यदि महामारी फैल गई तो क्या होगा?

उपर्युक्त सभी प्रकार के भय यों तो सामान्यतः साधारण व्यक्तियों को कभी न कभी सताते ही हैं, किन्तु यदि वे अप्रकृत होकर असामान्य भीतियों (फोबिया) बन जावें तो स्पष्ट ही ये सभी तनाव का रूप ले लेते हैं और इनके नाम-जैसे 'मृत्यु-भय' तनाव का वर्णन हो जाते हैं।

आधुनिक असामान्य मनोविज्ञान ने भी अनेक प्रकार की भीतियों की पहचान की है।[१३] ये सभी भीतियाँ विभिन्न प्रकार के तनावों का वस्तुतः वर्णन ही हैं। तनाव आखिर अनुभूति के स्तर पर एक 'व्यग्रता', 'उद्वेग' या 'आतुरता' ही तो है। जब हम इस उद्वेग को पहचान जाते हैं तो यही 'परिताप', 'दुःख', 'क्लेश' और 'भय' के नाम से जाना जाता है।

संदर्भ और टिप्पणियाँ

१. **पातंजल योगसूत्र**, २.३
२. डी० एम०- पेस्टनजी-**स्ट्रेस एण्ड कोपिंग**, सेज प्रकाशन, नई दिल्ली १९९२, पृ० १५.
३. **पातंजलयोगसूत्र**, २.४
४. टिम न्यूटन, **'मैनेजिंग स्ट्रेस'**, सेज प्रकाशन, लंदन १९९५.
५. **जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश**, भारतीय ज्ञानपीठ, १९९२, (भाग-२)
६. पेस्टन जी, उपर्युक्त, पृ० १५-१६.
७. न्यूटन, पूर्वोक्त, पृ० ९२२.

८. **आयरो**, लाडनूं, संवत् २०३६, पृ० १५.

९. वही, पृ० ८.

१०. वही, पृ० ४२.

११. वही, पृ० ३६.

११. **जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश** (भाग ३), पृ० २०६.

१३. कुछ भीतियाँ (फोबिया) जिनकी पहचान कर ली गई है, निम्नलिखित हैं-

Acro-Phobia- उच्चस्थान भीति

Agora-Phobia- खुले स्थान की भीति, जिसे जैन दर्शन में अगुप्ति-भय कहा गया है। प्रतीकात्मक रूप से यह अनावृत हो जाने का भय है।

Astra-Phobia- गरज-चमक का भय

Claustro-Phobia- रक्त-भीति

Hydro-Phobia- जल-भीति

Noso-Phobia- रोग भीति, जिसे 'वेदना-भय' कहा गया है। इसे Patho-Phobia- भी कहते हैं।

Phono-Phobia- स्वभाष-भीति

Photo-Phobia- प्रकाश-भीति

Tapho-Phobia- दाहकर्म भीति

Thanats-Phobia- मृत्यु-भीति। इसकी पहचान भी जैन दर्शन में स्पष्टतः हुई है।

Xeno-Phobia- विदेशी-भीति

Zoo-Phobia- प्राणी भीति (या भूत-भीति)



जैनयोग में अनुप्रेक्षा

समणी मंगलप्रज्ञा*

यह संसार शब्द एवं अर्थमय है। शब्द अर्थ के बोधक होते हैं। अर्थ व्यंग्य एवं शब्द व्यञ्जक होता है। साधना के क्षेत्र में शब्द एवं अर्थ दोनों का ही उपयोग होता है। साधन शब्द के माध्यम से अर्थ तक पहुंचता है तथा अन्ततः अर्थ के साथ उसका तादात्म्य स्थापित होता है। अर्थ से तादात्म्य स्थापित होने से ध्येय, ध्यान एवं ध्याता का वैविध्य समाप्त होकर उनमें एकत्व हो जाता है। उस एकत्व की अनुभूति में योग परिपूर्णता को प्राप्त होता है। इस एकत्व की अवस्था में चित्तवृत्तियों का सर्वथा निरोध हो जाता है[1]। पातञ्जल योगदर्शन के अनुसार यह निरोध ही योग है। पूर्ण समाधि की अवस्था है।

जैन दर्शन में योग शब्द का अर्थ है प्रवृत्ति । मन, वचन एवं काया की प्रवृत्ति को योग कहा गया है[2]। जैन-तत्त्व-मीमांसा में शुभयोग, अशुभयोग आदि शब्द प्रचलित हैं, किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में जैनयोग शब्द का प्रयोग इस प्रवृत्त्यात्मक योग के लिए नहीं हुआ है। यहाँ योग शब्द जैन साधना पद्धति के अर्थ में प्रयुक्त है। आगम उत्तरवर्ती जैन साहित्य में योग का तत्त्वमीमांसीय अर्थ प्रवृत्त्यात्मकता तो स्वीकृत ही रहा साथ में साधना के अर्थ में भी इसका प्रयोग होने लगा। जैन आचार्यों ने साधनापरक ग्रन्थों के नाम योगशास्त्र आदि रखे एवं योग का साधनात्मक नाम सर्वमान्य हो गया।

आत्मा का सिद्धान्त स्थिर हुआ तब आत्म-विकास के साधनों का अन्वेषण किया गया। आत्म-विकास के उन साधनों को एक शब्द में मोक्षमार्ग या योग कहा गया है। वस्तुतः जैन साधना पद्धति का नाम मोक्षमार्ग है। आ० हरिभद्र ने कहा- "मोक्खेण जोयणाओ जोगो सव्वो वि धम्मवावारो[3]" वह सारा धार्मिक व्यापार योग है जो व्यक्ति को मुक्ति से जोड़ता है। योग या मोक्षमार्ग केवल पारलौकिक ही नहीं है किंतु वर्तमान जीवन में भी जितनी शांति, जितना चैतन्य स्फुरित होता है वह सब मोक्ष है।

शांति एवं चैतन्य की स्फुरणा के लिए जैन साहित्य में अनेकों उपायों का निर्देश है। उन उपायों में एक महत्त्वपूर्ण उपाय है-अनुप्रेक्षा । जैन आगम, तत्त्वमीमांसीय एवं साधनापरक साहित्य में अनुप्रेक्षा/भावना के सिद्धान्त का महत्त्वपूर्ण एवं विशद् विवरण प्राप्त है। मोक्षमार्ग में वैराग्य की अभिवृद्धि के लिए बारह अनुप्रेक्षाओं का

---

*जैन विश्वभारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय) लाडनूं।

वर्णन प्रसिद्ध है। इन्हें बारह वैराग्य भावना भी कहते हैं। इनके अनुचितंन से व्यक्ति भोगों से निर्विण्ण होकर साम्य भाव में स्थित हो सकता है।

ध्यान की परिसम्पन्नता के पश्चात् मन की मूर्च्छा को तोड़नेवाले विषयों का अनुचिंतन करना अनुप्रेक्षा है[४]। अनु एवं प्र उपसर्ग सहित ईक्ष् धातु के योग से अनुप्रेक्षा शब्द निष्पन्न हुआ है, जिसका शाब्दिक अर्थ है- पुनः पुनः चिंतन करना/ विचार करना। प्राकृत में अनुप्रेक्षा के लिए अणुप्पेटा, अणुपेहा, अणुवेक्खा, अणुवेहा, अणुप्पेक्खा, अणुपेक्खा आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। इन सबका संस्कृत रूपान्तरण अनुप्रेक्षा है। आचार्य पूज्यपाद ने शरीर आदि के स्वभाव के अनुचिंतन को अनुप्रेक्षा कहा है[५]। स्वामी कुमार के अभिमतानुसार सुतत्त्व का अनुचिंतन अनुप्रेक्षा है[६]। अनित्य अशरण आदि स्वरूप का बार-बार चिंतन, स्मरण करना अनुप्रेक्षा है[७]। अनुप्रेक्षा तत्व चिंतनात्मक है। ध्यान में जो अनुभव किया है उसके परिणामों पर विचार करना अनुप्रेक्षा है।

अध्यात्म के क्षेत्र में अनुप्रेक्षा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अनुप्रेक्षा के विविध प्रयोगों से व्यक्ति की बहिर्मुखी चेतना अन्तर्मुखी बन जाती है। चेतना की अन्तर्मुखता ही अध्यात्म है, जीवन का अभीष्ट लक्ष्य है। अनुप्रेक्षा के महत्त्व को प्रकट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है कि -जितने भी भूतकाल में श्रेष्ठ पुरुष सिद्ध हुए हैं एवं भविष्य में होंगे वह सब भावना का ही महत्त्व है[८]। आ० पद्मनंदि बारहअनुप्रेक्षा के अनुचिंतन की प्रेरणा देते हुये कहते हैं कि बारह भावना महान् पुरुषों के द्वारा सदा ही अनुप्रेक्षणीय है। उनकी अनुचिंतना कर्मक्षय का कारण है[९]। शुभचन्द्राचार्य कहते हैं कि भावना के अभ्यास से कषायाग्नि शांत, रागनष्ट एवं अंधकार विलीन हो जाता है तथा पुरुष के हृदय में ज्ञान रूपी दीपक उद्भासित हो जाता है[१०]। तत्त्वार्थसूत्र, कार्तिकेयानुप्रेक्षा आदि ग्रन्थों में अनुप्रेक्षा को संवर धर्म का विशेष हेतु माना गया है[११]।

आगम में एक साथ बारस अनुप्रेक्षा का उल्लेख नहीं है किंतु उत्तरवर्ती साहित्य में उनका एक साथ वर्णन है। वारस-अणुवेक्खा, कार्तिकेयानुप्रेक्षा, शान्त-सुधारस-भावना आदि ग्रन्थों का निर्माण तो मुख्य रूप से इन अनुप्रेक्षाओं के लिए ही हुआ है। तत्त्वार्थसूत्र आदि में भी इनका पर्याप्त विवेचन उपलब्ध है। शान्त सुधारस आदि कुछ ग्रन्थों का निर्माण तो मुख्य रूप से इन अनुप्रेक्षाओं के लिए ही हुआ है। तत्त्वार्थसूत्र आदि में भी इनका पर्याप्त विवेचन उपलब्ध है। शान्त-सुधारस आदि कुछ ग्रन्थों में इन बारह भावनाओं के साथ मैत्री आदि चार भावनाओं को जोड़कर सोलह भावनाओं का विवेचन किया गया है। जैन साहित्य में बारह भावनाओं का उल्लेख बहुलता से प्राप्त है। अनित्य आदि अनुप्रेक्षा के पृथक-पृथक प्रयोजन का भी वहां पर उल्लेख है। आसक्ति विलय के लिए अनित्य अनुप्रेक्षा, धर्मनिष्ठ के विकास के लिए

अशरण अनुप्रेक्षा का अभ्यास किया जाता है[१२]। इसी प्रकार अन्य अनुप्रेक्षाओं का विशिष्ट प्रयोजन है।

उत्तराध्ययनसूत्र में अनुप्रेक्षा के परिणामों का बहुत सुंदर वर्णन उपलब्ध है। अनुप्रेक्षा से जीव क्या प्राप्त करता है, गौतम के इस प्रश्न के समाधान में भगवान् महावीर ने अनुप्रेक्षा के लाभ बताये हैं। वहां पर अनुप्रेक्षा के छह विशिष्ट परिणामों का उल्लेख है-

१. कर्म के गाढ़ बंधन का शिथिलीकरण
२. दीर्घकालीन कर्म स्थिति का अल्पीकरण।
३. तीव्र कर्म विपाक का मंदीकरण ।
४. प्रदेश परिमाण का अल्पीकरण ।
५. असाता वेदनीय कर्म के उपचय का अभाव
६. संसार का अल्पीकरण[१३]।

अनुप्रेक्षा चिन्तनात्मक होने से ज्ञानात्मक है ध्यानात्मक नहीं । अनित्य आदि विषयों के चिंतन में जब चित्त लगा रहता है, तब वह अनुप्रेक्षा और जब चित्त उन विषयों में एकाग्र बन जाता है, तब वह धर्म्यध्यान कहलाता है[१४]। ध्यानशतक में स्थिर अध्यवसाय को ध्यान एवं अस्थिर अध्यवसाय को चित्त कहा है और वह चित्त भावना, अनुप्रेक्षा अथवा चिंतनात्मक रूप होता है[१५]।

स्वाध्याय के पांच भेदों में अनुप्रेक्षा भी एक है[१६]। सूत्र के अर्थ की विस्मृति न हो इसलिए अर्थ का बार-बार चिंतन किया जाता है। अर्थ का बार-बार चिंतन ही अनुप्रेक्षा है[१७]। अनुप्रेक्षा में मानसिक परावर्तन होता है वाचिक नहीं होता[१८]। धर्म्य ध्यान एवं शुक्ल ध्यान की भी चार-चार अनुप्रेक्षा बताई गयी है[१९]। स्वाध्याय गत अनुप्रेक्षा, ध्यानगत अनुप्रेक्षा एवं बारह अनुप्रेक्षा में अनुप्रेक्षा शब्द का प्रयोग हुआ है। किन्तु संदर्भ के अनुकूल उनके तात्पर्यार्थ में कथंचित् भिन्नता है।

प्राचीन ग्रंथों में अनुप्रेक्षा का तत्त्व-चिंतनात्मक रूप उपलब्ध है। यद्यपि धर्म्य एवं शुक्ल-ध्यान की अनुप्रेक्षाओं का भी उल्लेख है किन्तु उनका भी चिंतनात्मक रूप ही उपलब्ध है। प्रेक्षा-ध्यान के प्रयोगों में अनुप्रेक्षा के चिंतनात्मक स्वरूप के साथ ही उसका ध्येय के साथ तदात्मकता के रूप को भी स्वीकार किया गया है। अनुप्रेक्षा का प्रयोग सुझाव पद्धति का प्रयोग है। आधुनिक विज्ञान की भाषा में इसे सजेस्टोलॉजी कहा जा सकता है। स्वभाव परिवर्तन का अनुप्रेक्षा अमोघ उपाय है। अनुप्रेक्षा द्वारा जटिलतम् आदतों को बदला जा सकता है। प्रेक्षा-ध्यान में स्वभाव परिवर्तन के सिद्धान्त के आधार पर अनेक अनुप्रेक्षाओं का निर्माण किया गया है एवं उनके प्रयोगों से वाञ्छित परिणाम भी प्राप्त हुये हैं।

स्वभाव परिवर्तन के लिए प्रतिपक्ष भावना का प्रयोग बहुत लाभदायी है। प्रतिपक्ष की अनुप्रेक्षा से स्वभाव, व्यवहार और आचरण को बदला जा सकता है। मोह-कर्म के विपाक पर प्रतिपक्ष भावना का निश्चित प्रभाव होता है। दशवैकालिक में इसका स्पष्ट निर्देश प्राप्त है। उपशम की भावना से क्रोध, मृदुता से अभिमान, ऋजुता से माया और संतोष से लोभ के भावों को बदला जा सकता है[२०]। आचारांगसूत्र में भी ऐसे निर्देश प्राप्त हैं। जो पुरुष अलोभ से लोभ को पराजित कर देता है, वह प्राप्त कामों में निमग्न नहीं होता[२१]।

अध्यात्म के क्षेत्र में प्रतिपक्ष भावना का सिद्धान्त अनुभव की भूमिका में सम्मत है। जैन मनोविज्ञान के अनुसार मौलिक मनोवृत्तियाँ चार हैं-कोध, मान, माया और लोभ। यह मोहनीय कर्म की औदयिक अवस्था है। प्रत्येक प्राणी में जैसे मोहनीय कर्म का औदयिक भाव होता है वैसे ही क्षायोपशमिक भाव भी होता है। प्रतिपक्ष की भावना द्वारा औदयिक भावों को निष्क्रिय कर क्षायोपशमिक भाव को सक्रिय कर दिया जाता है। महर्षि पतञ्जलि ने भी प्रतिपक्ष भावना के सिद्धान्त को मान्य किया है। उनका अभिमत है कि अविद्या आदि क्लेश प्रतिपक्ष भावना से उपहत होकर तनु हो जाते हैं[२२]। क्लेश प्रतिप्रसव (प्रतिपक्ष) के द्वारा हेय है[२३]। अनुप्रेक्षा के प्रयोग क्लेशों को तनु करते हैं।

अनुप्रेक्षा संकल्प शक्ति का प्रयोग है। अनुप्रेक्षा के प्रयोग से संकल्प शक्ति को बढ़ाया जा सकता है। व्यक्ति जैसा संकल्प करता है, जिन भावों में आविष्ट होता है, तदनुरूप उसका परिणमन होने लगता है। जं जं भावं आविसइ तंतं भावं परिणमइ[२४]। संकल्प शक्ति द्वारा मानसिक चित्र का निर्माण हो गया तो उस घटना को घटित होना ही होगा। संकल्प्य वस्तु के साथ तादात्म्य हो जाने से पानी भी अमृतवत् विषापहारक बन जाता है। आचार्य सिद्धसेन ने कल्याण मंदिर में इस तथ्य को स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त किया है[२५]। तत्त्वानुशासन में कहा गया है कि व्यक्ति जिस वस्तु का अनुचिंतन करता है वह तत् सदृश गुणों को प्राप्त कर लेता है। परमात्मस्वरूप को ध्यानाविष्ट करने से परमात्मा, गरुड रूप को ध्यानविष्ट करने से गरुड़ एवं कामदेव के स्वरूप को ध्यानाविष्ट करने से कामदेव बन जाता है[२६]। पातञ्जल योग दर्शन में भी यही निर्देश प्राप्त है। हस्तिबल में संयम करने पर हस्ति सदृश बल हो जाता है। गरुड़ एवं वायु आदि पर संयम करने पर ध्याता तत्सदृश बन जाता है[२७]।

अनुप्रेक्षा ध्यान की पृष्टभूमि का निर्माण कर देती है। अनुप्रेक्षा का आलम्बन प्राप्त हो जाने पर ध्याता ध्यान में सतत् गतिशील बना रहता है। अनुप्रेक्षा/भावना आत्म-सम्मोहन की प्रक्रिया है। अर्हम् की भावना करने वाले में अर्हत् होने की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। ध्येय के साथ तन्मयता होने से ही तद्गुणता प्राप्त होती है। इसलिए

आचारांग में कहा गया साधक ध्येय के प्रति दृष्टि नियोजित करे, तन्मय बने, ध्येय को प्रमुख बनाये, उसकी स्मृति में उपस्थित रहे, उसमें दत्तचित्त रहे[२८]।

बौद्ध एवं पातञ्जल साधना पद्धति में भी भावनाओं का प्रयोग होता है। पातञ्जल योग सूत्र में अनित्य, अशरण आदि भावनाओं का तो उल्लेख प्राप्त नहीं है किन्तु मैत्री, करुणा एवं मुदिता इनका उल्लेख है[२९]। महर्षि पतञ्जलि ने चित्त प्रसाद के लिए इन भावनाओं का उल्लेख किया है। उपेक्षा को इन्होंने भावना नहीं माना है, उनका अभिमत है कि पापियों में उपेक्षा करना भावना नहीं है अत: उसमें समाधि नहीं होती है।

बौद्ध साहित्य में अनुपश्यना शब्द का प्रयोग हुआ है जो अनुप्रेक्षा के अर्थ को ही अभिव्यक्त करता है। 'अभिधम्मत्थसंगहो' में अनित्यानुपश्यना, दु:खानुपश्यना, अनात्मानुपश्यना, अनिमित्तनुपश्यना आदि का उल्लेख प्राप्त है[३०]। 'विशुद्धिमग्ग' में ध्यान के विषयों (कर्म-स्थान) के उल्लेख के समय दस प्रकार की अनुस्मृतियों एवं चार ब्रह्म विहार का वर्णन है[३१]। उनसे अनुप्रेक्षा की आंशिक तुलना हो सकती है। मरण-स्मृति कर्मस्थान में शव को देखकर मरण की भावना पर चित्त को लगाया जाता है जिससे चित्त में जगत् की अनित्यता का भाव उत्पन्न होता है। कायगतानुस्मृति अशौचभावना के सदृश है। मैत्री, करुणा, मुदिता एवं उपेक्षा को बौद्ध दर्शन में ब्रह्म विहार कहा गया है। ये मैत्री आदि ही जैन साहित्य में मैत्री, करुणा आदि भावना के रूप में विख्यात हैं। आधुनिक चिकित्सा क्षेत्र में भी अनुप्रेक्षा का बहुत प्रयोग हो रहा है। मानसिक संतुलन बनाये रखने के लिए भी यह बहुत महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। (Mind store) नामक प्रसिद्ध पुस्तक के लेखक (Jack Black) ने मानसिक संतुलन एवं मानसिक फिटनेस के प्रोग्राम में इस पद्धति का बहुत प्रयोग किया है, उनकी पूरी पुस्तक ही इस पद्धति पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालती है।

ध्यान के द्वारा ज्ञात सच्चाइयों की व्यावहारिक परिणति अनुप्रेक्षा के प्रयोग से सहजता से हो जाती है। अनुप्रेक्षा, संकल्प-शक्ति, स्वभाव-परिवर्तन, आदत-परिवर्तन एवं व्यक्तित्त्व निर्माण का महत्त्वपूर्ण उपक्रम है। चिकित्सा के क्षेत्र में इसका बहुमूल्य योगदान हो सकता है। अनुप्रेक्षा के माध्यम से आधि, व्याधि एवं उपाधि की चिकित्सा हो सकती है। प्रेक्षा-ध्यान के शिविरों में विभिन्न उद्देश्यों से अनुप्रेक्षा के प्रयोग करवाये जाते हैं। इनका लाभ भी अनेकों व्यक्तियों ने प्राप्त किया है अत: आज अपेक्षा इसी बात की है कि अनुप्रेक्षा के बहु-आयामी स्वरूप को हृदयंगम करके स्व-पर कल्याण के कार्यक्रम में नियोजित किया जाये।

सन्दर्भ

१. योगश्चित्तवृत्तिनिरोध: पा० यो०सू०, १/२.

२. काय-वाङ्-मनो-व्यापारो योग: जै० सि० दीपिका ४/२५.
३. योगविंशिका, श्लो०१.
४. अमूर्त्त चिन्तन, पृ०१.
५. शरीरादीनां स्वभावानुचिंतनमनुप्रेक्षा। सर्वार्थसिद्धि, ९/२.
६. सुतत्तचिंता अणुप्पेहा । कार्तिकेयानुप्रेक्षा, श्लो० ९७.
७. अनु पुन: पुन: प्रेक्षणं चिन्तनं स्मरणमनित्यादिस्वरूपाणामित्यनुप्रेक्षा। कार्तिकेयानुप्रेक्षा, पृ० १.
८. किं पलवियेण बहुणा जे सिद्धा णरवरा गये काले।
सिज्झिहि जे विं भविया तज्जाणह तस्समाहप्पं।। वारस अणुवेक्खा, गा०९०.
९. द्वादशापि सदा चिन्त्या अनुप्रेक्षा महात्मभि: ।
तद् भावना भवत्येव कर्मणां क्षयकारणम् ।। पद्मं पंचविंशतिका, श्लो०४२.
१०. विध्याति कषायाग्नि विगलित रागो विलीयते ध्वान्तम् ।
उन्मिषति बोधदीपो हृदि पुंसां भावनाभ्यसात् ।। ज्ञानार्णव, मा० अ०, १९२.
११. (क) स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयचारित्रै: । तत्त्वार्थसूत्र, ९/२.
(ख) गुत्ती समिदी धम्मो अणुवेक्खा.....संवरहेदूविसेसेण । कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ९६.
१२. (१) संगविजयणिमित्तमणिच्चताणुप्पेहं आरभते।
(२) धम्मे थिरताणिमित्तं असरणतं चिंतयति ।
(३) संसारुव्वेगकरणं संसाराणुप्पेहा ।
(४) संबंधिसंगविजतायएगत्तमणुपेहेति ।। दशवै० अगस्तसिंह चूर्णि०, पृष्ठ १८.
१३. उत्तराध्ययन, २९/२३.
१४. तत्त्वार्थराजवार्तिक, ९/३६/१३.
१५. जं थिरमज्झवसाणं तं झाणं जं चलं तयं चित्तं।
तं होज्ज भावणा वा अणुपेहा वा अध्व चिंता ।।
ध्यानशतक, गा० २.
१६. ठाणं, ५/२२०.
१७. सूत्रवदर्थेऽपि संभवति विस्मरमत: सोऽपि परिभावनीय इत्यनुप्रेक्षा । उत्तरा०, शा० वृ०, पृ० ५८४.
१८. अणुप्पेहा नाम जो मणसा परियट्टेइ णो वायाए । दशवैकालिक चूर्णि, पृ० २९.
१९. ठाणं, ४/६८,७२.
२०. उवसमेण हणे कोहं माणं मद्दवया जिणे ।

मायं चज्जवभावेण लोह संतोसओ जिणे ॥ दशवैकालिक, ८/३८.

२१. लोभ अलोभं दुगंधमाणे, लद्धे कामे नामिगाहई । आचारांग, २/३६.

२२. प्रतिपक्षभावनोपहता: क्लेशास्तनवो भवन्ति, पातंजलयोगसूत्र २/४.

२३. ते प्रतिप्रसवेध्या: सूक्ष्मा:, पा० यो० सू०, २/१०.

२४. जं जं भावं आविसई...........

२५. कल्याणमंदिर, श्लो० १७.

२६. यदा ध्यान-बलाद् ध्याता शून्यीकृत्य स्वविग्रहम् ।
ध्येयस्वरूपाविष्टत्वात्तादृक् सम्पद्यते स्वयम् ॥
तदा तथाविध-ध्यान-संवित्ति-ध्वस्त कल्पन: ।
स एव परमात्मा स्याद्वैनतेयश्च मन्मथ: ॥ तत्त्वानुशासन, श्लो० १३५-३६.

२७. बलेषु हस्तिबलादीनि । पातंजलयोगसूत्र, ३/२४.

२८. तद्दिट्ठीए तम्मुत्तीए तप्पुरक्कारे तस्सण्णी तन्निवेसणे । आचारांग, ५/११०.

२९. मैत्रीकरुणामुदितेति तिस्रो भावना:,..... पा० यो० सू०, ३/२३.

३०. अभिधम्मत्थसंगहो, ९ वां अध्याय.

३१. विशुद्धिमग्ग, परिच्छेद ७-८ पृ. १३३-२००.



जैन साहित्य और दर्शन में प्रभाचन्द्र का योगदान

शिवाकान्त बाजपेयी*

भारतीय इतिहास निर्धारण में ब्राह्मण एवं बौद्ध साहित्य के साथ ही जैन साहित्य का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रारम्भिक जैन साहित्य आगम, निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य आदि प्राकृतभाषा में लिखे गए मिलते हैं। तदनन्तर छठी-सातवीं शताब्दी ई० से तत्कालीन समय की प्रचलित भाषा संस्कृत में जैन साहित्य के प्रणयन का प्रचलन बढ़ता है। यद्यपि इस समय भी प्राकृत भाषा में जैन साहित्य रचा जाता रहा एवं अपभ्रंश का भी प्रयोग होता रहा।

जैन साहित्य ऐतिहासिक दृष्टि से कितना उपयोगी है? यह विवाद का विषय हो सकता है, किन्तु यह प्राय: निर्विवाद है कि भारतीय साहित्य के सृजन एवं संवर्धन में जैन साहित्य एवं साहित्याचार्यों की विशिष्ट भूमिका रही है और जैन साहित्य लेखन का क्रम आज भी सतत् जारी है। जैन साहित्य के उद्भवकाल से ही जैन साहित्यकारों की उत्कृष्ट परम्परा परिलक्षित होती है। पूर्व मध्यकाल को जैन दर्शन की दृष्टि से "मध्याह्नोत्तर"[१] तथा साहित्य की दृष्टि से "उत्कर्ष-काल" मानना चाहिए। इस युग में अनेक साहित्यिक ग्रन्थों की रचना होती है, दार्शनिक मत-मतान्तरों पर चिन्तन-मनन एवं खण्डन-मण्डन का प्रयास होता है।

इस निर्दिष्ट समयावधि में ही वादिराज सूरि जैन दर्शन पर आधारित न्यायविनिश्चय का प्रणयन कर रहे होते हैं। इसी तरह शांति सूरि की जैनवार्तिक, अभयदेव सूरि- सन्मतितर्क टीका, जिनेश्वर सूरि-प्रमाणलक्षण, अनन्तवीर्य-प्रमेयरत्नमाला, हेमचन्द्र सूरि-प्रमाणमीमांसा, वादिदेव सूरि-प्रमाणनयतत्त्वालंकार एवं स्याद्वादरत्नाकर, चन्द्रप्रभ सूरि-प्रमेयरत्नकोष, मुनिचन्द्र सूरि-अनेकान्तजयपताकाटिप्पण आदि विवेच्य युग के उल्लेखनीय ग्रंथ हैं। इनमें भी दिगम्बर आचार्य प्रभाचन्द्र एवं इनकी साहित्यिक रचनाओं का अपना विशिष्ट स्थान दिखाई देता है। समय की दृष्टि से विचार किया जाए तो ये उपलब्ध स्रोतों से परमार शासक भोजराज एवं जयसिंह के समकालीन परिलक्षित होते हैं।[२]

प्रभाचन्द्र ने जैन साहित्य सर्जना एवं अनेकान्तवाद के खण्डन-मण्डन तथा विभिन्न दार्शनिक वादों के चिन्तन-मनन में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया किया है। इनके इस प्रकार के कार्य सम्पादन में समकालीन परिस्थितियों, परमार

*प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व अध्ययनशाला, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

शासक भोज तथा जयसिंह का विशेष सहाय्य मानना चाहिए। यद्यपि विद्वानों द्वारा इनकी रचनाओं की एक लम्बी सूची प्रस्तुत की जाती है, यथा प्रमेयकमलमार्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र, शब्दांभोजभास्कर, रत्नकरण्ड टीका, क्रियाकल्प टीका, समाधितंत्र टीका, आत्मानुशासनतिलक, द्रव्यसंग्रह पंजिका, शाकटायनन्यास, प्रवचनसरोजभास्कर, सर्वार्थसिद्धि-टिप्पण, उत्तरपुराण टिप्पण, आदिपुराण टिप्पण आराधनाकोष (गद्य), अष्टपाहुड़ पंजिका, देवागम पंजिका, समयसार टीका, पंचास्तिकाय टीका, मूलाचार टीका, आराधना टीका आदि।[३] परन्तु इनमें से अनेक के बारे में यह कह पाना कि ये प्रभाचन्द्रकृत ही हैं, अत्यन्त कठिन है। संभव है प्रभाचन्द्र की रचनाओं की यह लम्बी सूची विविध समयों में हुए एकाधिक प्रभाचन्द्र के परस्पर तादात्म्य बिठा देने के कारण हो। किन्तु यहाँ उन्हीं ग्रंथों के परिचयोल्लेख का मैंने प्रयत्न किया है जिन्हें ११वीं-१२वीं शताब्दी ई० में हुए प्रभाचन्द्र से सम्बद्ध किया जा सकता है; और जिनका जैन धर्म-दर्शन एवं तत्कालीन साहित्य जगत में अपना अत्यन्त विशिष्ट स्थान है।

विषय की दृष्टि से इन ग्रन्थों को निम्नलिखित वर्गों में रखा जा सकता है-

(१) न्यायशास्त्र पर आधारित ग्रन्थ -	(अ) प्रमेयकमलमार्तण्ड
	(ब) न्यायकुमुदचन्द्र
(२) व्याकरणशास्त्र पर आधारित ग्रन्थ	(अ) शब्दांभोजभास्कर
	(ब) शाकटायनन्यास
(३) पुराण पर आधारित ग्रन्थ	(अ) उत्तरपुराण टिप्पण
	(ब) आदिपुराण टिप्पण

प्रमेयकमलमार्तण्ड

प्रमेयकमलमार्तण्ड जैन न्यायशास्त्र का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता है। इस ग्रन्थ की रचना राजा भोज के राज्यकाल में हुई थी[४]। यह प्रभाचन्द्र के पूर्ववर्ती आचार्य माणिक्यनन्दि के 'परीक्षामुख' नामक न्यायग्रंथ पर आधारित विस्तृत एवं सारगर्भित भाष्य है। इस ग्रन्थ में प्रभाचन्द्र ने जैन धर्म के आधारभूत सिद्धान्त अनेकान्तवाद की विस्तृत व्याख्या की है। इसमें प्रभाचन्द्र ने अपने गुरु पद्मनन्दि सैद्धान्तिक का भी ससम्मान स्मरण किया है।

न्यायकुमुदचन्द्र

प्रभाचन्द्र का न्यायशास्त्र पर आधारित यह दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है एवं विषयशैली, अभिव्यंजना आदि की दृष्टि से यह प्रमेयकमलमार्तण्ड के बाद जयसिंह के समय में रचा गया प्रतीत होता है।[५]

सप्त परिच्छेदों में विभाजित इस ग्रन्थ में प्रायः अनेकान्वाद की ही चर्चा है।

यह उल्लेखनीय है कि अनेकान्तवाद पर आधारित उन नवीन संकल्पनाओं एवं विचारों का भी इसमें समावेश किया गया है जो किसी कारणवश प्रमेयकमलमार्तण्ड में सम्मिलित नहीं हो पाये थे। इसके साथ ही नय एवं निक्षेप पर भी इसमें सारगर्भित व्याख्या प्रस्तुत की गई है।

पूर्व की भाँति इस ग्रन्थ में भी प्रभाचन्द्र ने प्रशस्ति के अन्तर्गत में अपने गुरु पद्मनन्दि सैद्धान्तिक का सादर उल्लेख किया है।

शब्दांभोजभास्कर

देवनन्दि के जैनेन्द्र व्याकरण पर आधारित "शब्दांभोजभास्कर" व्याकरण शास्त्र का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। यद्यपि अनके विद्वानों ने इसके प्रभाचन्द्रकृत होने में सन्देह व्यक्त किया है, परन्तु इस टीका के आरम्भ में उद्धृत यह तथ्य कि "प्रमेय कमलमार्तण्ड एवं न्यायकुमुदचन्द्र में अनेकान्त की चर्चा की गई है अत: अनेकान्त की चर्चा शब्दांभोजभास्कर में नहीं की जा रही है, इसलिए उक्त दोनों ग्रन्थों का अवलोकन किया जाय[६]।" प्रभाचन्द्र से इस ग्रन्थ का सम्बन्ध जोड़ने में अत्यन्त सहायक प्रतीत होता है। यदि कोई अन्य विद्वान् शब्दांभोजभास्कर का टीकाकार होता तो वह प्रमेयकमलमार्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्र के अवलोकन के आग्रह के साथ ही उक्त दोनों ग्रन्थकारों के नामों का भी उल्लेख करता। किन्तु इसके टीकाकार स्वयं प्रभाचन्द्र हैं इसलिए उन्होंने ग्रन्थों के उल्लेख के साथ ग्रन्थकार के नाम का उल्लेख नहीं किया है।

इस ग्रन्थ में प्रसंगवश पूर्ववर्ती आचार्य अभयनन्दि का भी स्मरण किया गया है। वर्तमान में इसके मात्र तीन अध्याय ही उपलब्ध होते हैं। परन्तु विद्वानों ने इसे १६,००० श्लोकों वाले दीर्घ-काय ग्रन्थ होने का अनुमान किया है[७] और यह सम्भव भी प्रतीत होता है।

शाकटायन न्यास

राष्ट्रकूट शासक अमोघवर्ष-प्रथम (८१३-८८० ई०) के समकालीन आचार्य शाकटायन द्वारा रचित "अमोघवृत्ति" नामक व्याकरण ग्रंथ पर आधारित यह टीका ग्रंथ है। सम्प्रति इस ग्रन्थ के मात्र दो अध्याय ही उपलब्ध होते हैं। इसमें इसके प्रतिपाद्य विषय एवं रचनाकार के सम्बन्ध में जानकारी उपलब्ध होती है।

कतिपय विद्वानों ने इसके प्रभाचन्द्र द्वारा रचित होने में संदेह व्यक्त किया है[८]। किन्तु अभिलेखीय साक्ष्य आदि के आधार पर इसे प्रभाचन्द्र द्वारा विरचित होने की ही अधिक सम्भावना है। यद्यपि इस प्रकार के मत प्रतिष्ठापन में अन्य प्रमाणों की अपेक्षा है। प्रसंगवश उल्लेखनीय है कि शाकटायन श्वेताम्बर सम्प्रदाय के आचार्य थे। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के आचार्य के व्याकरण ग्रन्थ पर दिगम्बर सम्प्रदाय के आचार्य द्वारा

रचित यह टीका-ग्रन्थ इन दोनों सम्प्रदायों में परस्पर सौहार्द्र की भावना का सूचक माना जा सकता है।

आदिपुराण-उत्तरपुराण टिप्पण

पुष्पदन्त कृत अपभ्रंश भाषा के महापुराण[९] के दोनों भागों - आदिपुराण एवं उत्तरपुराण पर प्रभाचन्द्र ने पृथक-पृथक टिप्पण-ग्रन्थ रचे हैं। सुविधा की दृष्टि से यहां पर एक ही शीर्षक के अन्तर्गत इनका संक्षिप्त वर्णन है।

प्रभाचन्द्र ने अपने प्रारम्भिक दोनों ग्रन्थों- प्रमेयकमलमार्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्र में प्रशस्ति के अन्त में अपने गुरु पद्मनन्दि सैद्धान्तिक का स्मरण किया है जबकि उक्त टिप्पण ग्रंथों में उन्होंने अपने गुरु का स्मरण नहीं किया है। अतः शास्त्री महोदय इनके प्रभाचन्द्र द्वारा रचित होने में संशय व्यक्त करते हैं।[१०]

परन्तु यह भी संभव है कि टिप्पण ग्रन्थ होने के कारण प्रभाचन्द्र ने गुरु के नाम का स्मरण करना बहुत आवश्यक न समझा हो।

वस्तुतः भाषा-शैली एवं वाक्य-रचना आदि की दृष्टि से तो इसे प्रभाचन्द्र द्वारा प्रणीत मानना अधिक उपयुक्त होगा।

इस प्रकार प्रभाचन्द्र एवं उनकी कृतियों के सामान्य अध्ययन से जैन साहित्य सर्जन एवं दार्शनिक चिन्तन-मनन में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान परिलक्षित होता है। ऐसा प्रतीत होता है वे अपने समय में व्याप्त दार्शनिक मत-मतान्तरों के समाधान के लिए अनेकान्वाद एवं स्याद्वाद की पुनर्प्रतिष्ठा के लिए प्रयत्नशील थे। उनकी साहित्यिक विधा एवं व्याकरणीय सिद्धान्तों में गहरी पैठ थी। वे अपनी सर्जना एवं सिद्धान्तों के माध्यम से सभी के लिए समादरणीय बन गए।

सन्दर्भ

१. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य- **जैन दर्शन**, श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, काशी १९५५, पृ०२७.

२. नाथूराम प्रेमी, **जैन साहित्य और इतिहास**, मुम्बई १९५६, पृ० २८९.

३. प्रतिपाल भाटिया- **दि परमाराज**, दिल्ली १९७०, पृ० ३३०;
नाथूराम प्रेमी, वही, पृ० २९०; कस्तूरचन्द कासलीवाल, (सं०) - **राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों की ग्रन्थ सूची**, भाग-२, श्री महावीर ग्रन्थमाला, जयपुर १५५४.

४. श्री पद्मनन्दि सैद्धान्तिशिष्योऽनेक गुणालयः।
प्रभाचन्द्रश्चिरं श्रीमान् रत्ननन्दि पदेरतः ॥

श्री भोजदेव राज्ये श्रीमद्धारा निवासिना परापरपरमेष्ठिपद प्रणामार्जितामल-पुण्यनिराकृत निखिलमलकलङ्केन श्रीमत्प्रभाचन्द्र पण्डितेन निखिल प्रमाणप्रमेयस्वरूपोद्योत परीक्षामुखपदमिदं विवृतमिति ।

प्रमेयकमलमार्तण्ड

५. श्री जयसिंहदेवराज्ये श्रीमद्धारा निवासिना परापरपरमेष्ठिपद प्रणामार्जितामल पुण्यनिराकृत निखिलमलकलङ्केन श्रीमत्प्रभाचन्द्र पण्डितेन न्यायकुमुदचन्द्रो लघीस्त्रयालङ्कार।

- न्यायकुमुदचन्द्र

६. नाथूराम प्रेमी, वही, पृ० ३५.
७. वही, पृ० ३५.
८. वही, पृ० १६०.
९. पी० एल० वैद्य (सं०) - हरिवंशपुराणम्, १९४१ई०, पृ० १०.
१०. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, वही, पृ० १२२.



श्री अजरामर स्वामी

डॉ० रमणलाल ची० शाह
हिन्दी अनुवादक - श्री भँवरलाल नाहटा*

स्थानकवासी सम्प्रदाय में हुए महात्माओं में स्व० पू० श्री अजरामर स्वामी का स्थान अनोखा है। इन्होंने अपनें जीवन काल में धार्मिक क्षेत्र में अनेक भागीरथ कार्य किए थे। इन्होंने जैन दर्शन के सिवा अन्य भारतीय दर्शनों का भी गहन अध्ययन किया था, अत: इनमें साम्प्रदायिक संकुचितता या कट्टरता नहीं रह गयी थी। ये बहुत उदार और समन्वयकारी दृष्टिकोण के धारक थे। गुजरात, सौराष्ट्र और कच्छ की ओर बहुत विचरे थे। कच्छ में भी विस्तृत वागड़ पर इनका विशिष्ट प्रभाव रहा। इनकी जीवनी के विषय में कितनी ही जानकारियां मिलती हैं, उसी के आधार शतावधानी पं० रत्नचंद जी महाराज ने इनका जीवन चरित्र लिखा हैऔर इनके विषय में **भक्तामर पादपूर्ति** की संस्कृत श्लोकों में रचना की है।

अजरामर स्वामी का जन्म वि० सं० १८०९ के ज्येष्ठ शुक्ल ९ के दिन जामनगर के निकटवर्ती पडाणा ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम माणेकचंद था, और माता का नाम कंकुबाई । ये जाति के वीसा ओसवाल थे। अजरामर जी का जन्म नाम भी अजरामर ही था। जब ये पाँच वर्ष के हुए तब इनके पिता का देहावसान हो गया। दु:खित विधवा माता कंकुबाई ने अपना मन धर्मध्यान की ओर लगा दिया। बालक अजरामर ने गाँव की पाठशाला में पढ़ना प्रारम्भ किया था और माता इसे प्रतिदिन उपाश्रय में ले जाती तब गुरु महाराज के पास भी साथ में ले जाती थी।

माता कंकुबाई का प्रतिदिन सामायिक और प्रतिक्रमण करने का नियम था। उन्हें तो पाठ आते नहीं थे परन्तु स्थानक में जाकर दूसरों के बोलने के साथ सामायिक प्रतिक्रमण कर लेती थी।

एक दिन वर्षा बहुत तेज रही थी इसलिए स्थानक जाना संभव नहीं था। माता कंकुबाई उदास बैठी थी क्योंकि उसका प्रतिदिन का प्रतिक्रमण का नियम भंग हो रहा था। माँ को चिन्तित देखकर बालक अजरामर ने कारण ज्ञात कर उनसे कहा - 'माँ! तुम चिन्ता मत करो, मैं तुम्हें पूरा प्रतिक्रमण सूत्रों को बोल कर करा दूंगा। माँ ने पुत्र की बात सत्य न मानी तो अजरामर ने कहा - मैं प्रतिदिन स्थानक साथ ही तो चलता हूँ अत: मुझे प्रतिक्रमण पूरा कण्ठस्थ हो गया है। छ: वर्ष के बालक ने जब माता को पूरा प्रतिक्रमण शुद्ध उच्चारणपूर्वक करा दिया तब उसे बहुत आश्चर्य हुआ।

---

*४, जगमोहन मल्लिक लेन, कलकत्ता - ७००००७

अपना पुत्र इतना अधिक तेजस्वी है, इस बात का विश्वास हो गया और मन में भावना जगी कि बड़ा हो कर यह कोई महान् साधु महात्मा बने तो कितना अच्छा हो। माँ की भी दीक्षा लेने की भावना हो गई थी। वि० सं० १८१८ में हीराजी स्वामी और कानजी स्वामी जी लिम्बडी से विहार कर के गोंडल पधारे थे, वहां उनका चातुर्मास था। कंकुबाई और अजरामर हीराजी स्वामी के पास गोंडल जा पहुँचे और अपनी तथा बालक की दीक्षा लेने की भावना है यह इच्छा बतलाई। हीराजी स्वामी ने इसके लिए कुछ रुक जाने को कहा और अजरामर को अपने पास और कंकुबाई को महासती जेठीबाई के पास रह कर शास्त्राभ्यास कराने की व्यवस्था कर दी।

चातुर्मास के पश्चात् अन्यत्र विहार कर के सं० १८१९ में हीराजी स्वामी फिर गोंडल पधारे और वहीं कंकुबाई तथा बालक अजरामर को दीक्षा दी गई। गोंडल के लिए यह एक भव्य प्रसंग हो गया। गोंडल नरेश ने भी इस प्रसंग पर उत्साहपूर्वक भाग लिया और राज्य की ओर से अच्छा सहयोग मिला। दीक्षा के बाद अजरामर कानजी स्वामी के शिष्य हुए और कंकुबाई महासती जेठाबाई की शिष्या बनीं।

बालक अजरामर बहुत तेजस्वी था। उसके मुखमंडल, भव्य ललाट और तीक्ष्ण नेत्र देखते ही दर्शकों को यह विश्वास हो जाता कि यह कोई असाधारण बालक है।

माता कंकुबाई और बालक अजरामर जब गोंडल में हीराजी स्वामी के पास दीक्षा लेने की भावना से आये थे तब बालक अजरामर उपाश्रय से कई भिन्न-भिन्न गृहस्थों के घर भोजन करने जाते। एक बार गोंडल की वैष्णव हवेली के गोसाईजी महाराज ने इस तेजस्वी बालक को बुला कर बातचीत करके दीक्षार्थी ज्ञात कर सोचा कि ऐसा बालक अपनी हवेली में आकर रहे और अपना उत्तराधिकारी बने ।अजरामर को बुलाकर उन्होंने कहा कि यहां हवेली में रहने से उत्तम वस्त्राभूषण और सरस खान्-पान मिलेगा और विशाल सम्पत्ति के वारिसदार बनोगे। यह सुनकर बालक जरा भी नहीं ललचाया और संयम मार्ग पर दृढ़ रहा इससे ज्ञात होता है कि अजरामर की दृष्टि कितनी सत्य, स्वस्थ और स्थिर थी।

दीक्षा के पश्चात् अजरामरजी ने अपना अभ्यास बढ़ाया और कितने ही भिन्न-भिन्न स्थानों पर चातुर्मास करने के बाद हीराजी स्वामी की भावना हुई कि बालमुनि को आगे विशेष अभ्यास के हेतु सूरत की ओर विहार करना चाहिए क्यों कि उस समय सूरत में बड़े-बड़े विद्वान् रहते थे। सं० १८२६ में पू० श्री हीराजी स्वामी, पू० श्री कानजी स्वामी और बालमुनि श्री अजरामर स्वामी चातुर्मास के पश्चात् भरुच से सूरत की ओर विहार कर रहे थे। वे नर्मदा नदी पार करने के लिए रेती/बालू का मार्ग पार करके एक वृक्ष की छाया में बैठे थे। उस समय सूरत निवासी खरतरगच्छ के श्रीपूज्य

यति श्री गुलाबचंद जी भी भरुच से सूरत वापस आ रहे थे। उन्होंने बालू पर बड़े-बड़े पांवों के साथ छोटे पदचिन्ह भी देखे। वे समर्थ लक्षण-वेत्ता थे। पदचिन्ह देखते ही उन्हें लगा कि ये किसी तेजस्वी बालक के पदचिन्ह हैं। सामने किनारे पर पहुँचते ही उन्होंने हीराजी स्वामी आदि को वृक्ष के नीचे बैठे देखा तो वन्दन करते हुए पूछा-महाराज! आप कहां से पधारे हैं? किधर विहार करना है? हीराजी स्वामी ने बतलाया कि हम लिम्बडी से विहार कर सूरत जा रहे हैं। बालमुनि को संस्कृत के अभ्यास के साथ दर्शन शास्त्रादि साहित्याभ्यास कराने की भावना है, यह भी कहा। श्रीपूज्य गुलाबचंद जी ने अपना परिचय दिया और चरणचिन्ह और अन्य शारीरिक लक्षणों से बालमुनि को बहुत विद्वान् और तेजस्वी बतलाया और कहा कि यदि सूरत में अभ्यास करना हो तो मैं स्वयं विद्याभ्यास कराऊंगा। यह सुनकर हीराजी स्वामी और अन्य साधुओं ने प्रसन्नता अनुभव की।

पूज्यश्री गुलाबचंद जी मूर्तिपूजक संप्रदाय खरतरगच्छ के यति थे। एक स्थानकवासी बालमुनि को अभ्यास कराना था। एक मूर्तिपूजक संप्रदाय के यति अपने स्थानकवासी संप्रदाय के बालमुनि को अभ्यास करावें इससे हीराजी स्वामी और कानजी स्वामी को जरा भी बाधा नहीं थी। दूसरी ओर यति श्री गुलाबचंद जी स्वयं मूर्तिपूजक संप्रदाय के होने पर भी बालमुनि को अभ्यास अवश्य करायेंगें, ऐसा पक्का विश्वास दिलाया। सूरत में जब विद्याभ्यास चालू हुआ तो अन्य सम्प्रदाय के साधु को विद्याभ्यास कराने पर समाज ने थोड़ा खलबलाहट मचाया पर कोई असर नहीं पड़ा। गुलाबचंद जी ने बहुत उत्साहपूर्वक बालमुनि को संस्कृत और प्राकृत के अध्ययन के साथ व्याकरण, काव्य, अलंकार, न्याय, ज्योतिष आदि अनेक विषयों का अध्ययन कराया, फिर सांख्य, वेदान्त आदि षड्दर्शन का भी अभ्यास कराया और न्यायावतार, स्याद्वादरत्नाकर आदि गंभीर और कठिन ग्रंथ भी पढ़ाये। इस प्रकार के अध्ययन में बहुत वर्ष लगते हैं और एक ही स्थानक या उपाश्रय में अधिक चातुर्मास करना उचित नहीं अतः श्री हीराजी स्वामी ने सूरत के विविध पुरों में भिन्न-भिन्न स्थानों में छः चातुर्मास बिताये। इस प्रकार बालक मुनि श्री अजरामर के विद्याभ्यास हेतु छः चातुर्मास सूरत में लगातार करने पड़े, किन्तु उन्हें सतत् अभ्यास का बहुत लाभ मिला। श्री पूज्य मंत्र-तंत्र और गुप्त विद्याओं के भी समर्थ ज्ञाता थे। अजरामर स्वामी योग्य पात्र हैं, यह प्रतीत होने पर उन्होंने मंत्र-तंत्र तथा सूर्यप्रज्ञप्ति और चंद्रप्रज्ञप्ति की गुप्त विद्याएँ भी अजरामर स्वामी को सिखला दी।

अजरामर स्वामी के विद्याभ्यास के निमित्त को लेकर सूरत का मूर्तिपूजक समुदाय और स्थानकवासी समुदाय दोनों उदार हृदय से एक दूसरे के अधिक निकट आ गये। इसी कारण अजरामर स्वामी की मात्र जैन सम्प्रदायव्यापी ही नहीं, जैन और

जैनेतर धर्मों के बीच भी विशाल और उदार दृष्टि व्याप्त हो गई थी। अजरामर स्वामी का व्यक्तित्व ऐसा पवित्र और उदार था कि उनकी उपस्थिति में साम्प्रदायिक संकुचितता की बात टिक भी नहीं सकती थी।

तरुण अजरामर स्वामी गहन शास्त्राभ्यास करके जब लिम्बडी पधारे थे तब वहाँ के लोगों ने उनके प्रति बहुत आदर भाव दिखाया था, किन्तु अजरामर स्वामी ने कहा कि अभी मैं ज्ञान में अधूरा हूँ और मेरी इच्छा है कि मालवा में विचरते श्री दौलतरामजी महाराज के पास जाकर आगम शास्त्रों का अभ्यास करूं इसके लिए या तो वे काठियावाड़ पधारें या स्वयं उनके पास जाकर अध्ययन किया जाय। संघ ने विचार किया कि यदि दौलतराम जी महाराज स्वयं यहां पधारें तो लोगों को भी लाभ मिले, अतः इसके लिए खास व्यक्ति को भेजकर सारी परिस्थिति समझा कर विनती की गई जिसे श्री दौलतराम जी महाराज ने स्वीकार किया और अपने शिष्य समुदाय के साथ अहमदाबाद होकर लिम्बडी पधारे। वे दो वर्ष झालावाड़ में विचरे। अजरामर जी स्वामी ने उनके पास आगम शास्त्रों का गहन अभ्यास किया। वे जब लौटे तब अजरामर स्वामी ने उन्हें अपने ग्रंथ संग्रह में से कितने ही उत्तम मूल्यवान ग्रंथ भेंट किये।

अजरामर स्वामी शास्त्रज्ञाता और शासन का भार वहन कर सकने योग्य हो गये यह ज्ञात कर संघ ने वि० सं० १८४५ में लिम्बडी में विशाल समारोह का आयोजन कर उन्हें ३५ वर्ष की तरुणावस्था में आचार्य पद पर स्थापित किया। उस समय सम्प्रदाय में जो कुछ शिथिलता थी उसे दूर करने के लिए इन्होंने जबरदस्त पुरुषार्थ किया था। उनके व्यक्तिव में सरलता, नम्रता, वात्सल्य, मधुरता, उदारता, गंभीरता आदि गुण इतने विकसित हो गये थे कि जैन-जैनेतर लोग भी उन्हें चाहने लगे।

अजरामर जी की उच्च साधना थी। उनमें आत्मबल भी पर्याप्त था। ऐसी विभूतियों के जीवन में कितने ही चमत्कारिक प्रसंगों का बन जाना स्वाभाविक है। कहा जाता है कि एक बार अजरामरजी स्वामी जामनगर से कच्छ जाने के लिए मालिया गांव में पधारे वहां से वे रणपार कर के बागड़ की ओर जा रहे थे तो रास्ते में उन्हें लुटेरों का दल मिला। अजरामर स्वामी ने उन्हें कहा हम सब साधु हैं और हमारे पास कोई दौलत नहीं हैं तो भी लुटेरे न माने और उन्हें शरीर पर एक वस्त्र रखकर बाकी सारे कपड़े, पातरे, पुस्तकें आदि सौंप देने की क्रूर आज्ञा दी। लुटेरे लोग किसी प्रकार भी मानने को तैयार न थे। उस समय परिस्थिति देखकर अजरामर स्वामी ने मंत्रोच्चार किया जिससे सभी लुटेरे स्तंभित और अंधे हो घबड़ा कर माफी मांगने लगे तब फिर कभी लूटपाट न करने की प्रतिज्ञा दिला कर छोड़ा फिर वे उनके के भक्त बन गये।

अन्य एक ऐसा प्रसंग बना कि अजरामर स्वामी अपने शिष्यों के साथ कच्छ से विहार कर लिम्बडी की ओर जा रहे थे। मार्ग में जंगल में से निकल कर एक सिंह दौड़ता हुआ सामने आया। शिष्य लोग घबड़ा गए किन्तु स्वस्थतापूर्वक स्वामीजी ने उन्हें अपने पीछे-पीछे नवकार मंत्र का जाप करते हुए आने को कहा, इससे सिंह वहीं पर बैठ गया और आक्रमण करने के विपरीत एकाग्र दृष्टि से स्वामी जी की ओर देखता रहा।

विक्रम संवत् १८४६ में अजरामर जी स्वामी दूसरी बार मालिया से विहार कर कच्छ का रण पार कर एक गाँव में ठहरे थे। उस समय कच्छ के महाराज के मंत्री और मूर्तिपूजक जैनसमाज के प्रतिष्ठित आगेवान वाघजी पारेख का कच्छ के महाराज के साथ कुछ अनबन हो गई है, ऐसी बात फैल गई। अजरामर स्वामी कच्छ के इस गाँव में किसी श्रावक के घर के बाह्य भाग में उतरे हुए थे। रात्रि के अंधेरे में उन्हें कोई आदमी आता दिखाई दिया। स्वामी जी ने पूछा कौन - बाघा पारेख हो।

अपना नाम अजरामरजी के मुख से सुन कर बाघा पारेख को आश्चर्य हुआ क्योंकि कि वे एक दूसरे से मिले नहीं थे। स्वामी जी ने बाघा पारेख को बैठा कर कहा- "कच्छ के महाराज तुम्हारे पर कुपित हुए हैं, इससे घबड़ा कर तुम छिपते फिरते हो। कच्छ छोड़ कर भाग जाने का विचार करते हो किन्तु तुम्हें ऐसा करने की आवश्यकता नहीं। हिम्मत और धैर्य रखो। महाराज के एक काम पड़ेगा जिसे तुम्हारे सिवा दूसरा कोई नहीं कर सकेगा। उस समय महाराज जी तुम्हे बुलावेंगे। तब तुम्हारे हाथ से कच्छ के प्रजा की सेवा का बड़ा काम होगा।"

अजरामर जी स्वामी की कही हुई बात सत्य हुई। महाराज जी ने बाघा पारेख को बुलाया। दोनों के बीच पूर्व मेलमिलाप हो गया। महारानी ने तो अपने भाई के रूप में उसे परिचित कराया। कामेती मुंहता के पद का कार्यभार उसे वापस सौंपा गया। तब से बाघा पारेख को अजरामर स्वामी के वचनों पर अटूट विश्वास हो गया।

अजरामर स्वामी ने तीन बार कच्छ में विहार किया था। उन दिनों काठियावाड़ से कच्छ जाना सहज नहीं था। विहार बहुत लंबा और कष्टकर था फिर भी लोगों की धर्म भावना का अनुसरण कर अजरामर स्वामी ने वहां कुल छः चार्तुमास किये थे। तब बाघाजी पारेख की इच्छा थी कि स्वामी जी अपने भुजनगर में पधारें। उन दिनों स्थानकवासी साधुओं को भुज में पधारने की मनाही थी। बाघाजी पारेख ने उसे रद्द कराई और स्वामीजी के प्रवेश के समय बैंडबाजा न बज पाये, इस विषय में संघ को सूचित किया।

अजरामर स्वामी ने कच्छ में जो चार्तुमास किये उससे मांडवी की समुद्री वायु और पानी के कारण उन्हें संग्रहणी और वायु का दर्द पैर में हो गया था। अनेक उपचार

करने पर भी फर्क नहीं पड़ा फिर भी उन्होंने गुजरात, सौराष्ट्र और कच्छ में विहार तो ठीक तौर से किया ही था किन्तु अशक्ति विशेष बढ़ने पर वि० सं० १८६४ में लिम्बडी में चातुर्मास किया और बाद में उन्हें वहीं स्थिरवास करना पड़ा।

लिम्बडी में उनसे मिलने के लिए चारों ओर से अनेक संत, सतियाँ पधारते। एक बार अहमदाबाद से शत्रुंजय की यात्रा के लिए बड़ा संघ निकला, वह भी लिम्बडी हो कर निकला था। उस संघ में आये कितने ही यतिजन अजरामर स्वामी से मिलने के लिए आये और उनके साथ संस्कृत भाषा में शास्त्रार्थ चर्चा करते समय वे बहुत ही प्रभावित हुए थे।

वि० सं०१८६८ के चार्तुमास में अजरामर स्वामी की प्रेरणा से लिम्बडी में बहुत तपश्चर्या हुई, उनमें ३९ जितने तो मासखमण हुए थे । उस तपश्चर्या में मूर्तिपूजक सम्प्रदाय ने भी उत्साहपूर्वक भाग लिया था।

सं० १८७० में श्रावण महीने में अजरामर स्वामी का स्वास्थ्य विशेष बिगड़ने लगा। दीक्षा पर्याय के ५० वर्ष और आचार्य पद के २५ वर्ष पूर्ण करने के बाद अपना अंतकाल निकट जान उन्होंने संथारा ले लिया, क्षमापना की और नवकार मंत्र का जाप करते-करते श्रावण वदि १ को रात्रि में १ बजे उन्होंने देह त्याग किया। उनके कालधर्म के समाचार चारों ओर शीघ्रता से फैल गए और श्रावण वदि २ के देह का अग्नि संस्कार के समय हजारों आदमी आ पहुँचे।

लगभग ६२ वर्ष के आयु में पूज्य अजरामर जी स्वामी ने बहुत सी सिद्धियाँ प्राप्त की थीं। जैन शासन पर उनका बहुत बड़ा उपकार रहा है। अपने हृदय की विशालता और उदारता के कारण जैनों के सभी संप्रदाय के लोगों और जैनेतर लोगों के हृदय में उन्होंने अनोखा स्थान प्राप्त किया था। इसी से उनके नाम से जगह-जगह भिन्न-भिन्न संस्थाओं की स्थापना हुई है और दो शताब्दी से लोग उनका भावपूर्वक स्मरण करते हैं।



जोगरत्नसार (योगरत्नसार)

सम्पादिका - श्रीमती (डॉ०) मुन्नी जैन*

भारतीय चिन्तन का मूल केन्द्र आत्मा है इसलिए इस देश की समग्र चिन्तनधारा आत्मा को आधार मानकर गतिशील रही है। जैन चिन्तकों ने आत्मा के विकास मार्ग का अन्वेषण करने में ही अपने जीवन का समर्पण किया है। जैन आगमों में आत्मा को शरीर, इन्द्रिय एवं मन आदि भौतिक पदार्थों से अलग एवं स्वतंत्र माना गया है। राग-द्वेष से कर्मबन्धन होता है और इन्ही विकारों से आत्मा संसार में परिभ्रमण करती है। इन विकारों के क्षय के लिए भारतीय विचारकों ने अनेक मार्गों की सर्जना की जिनमें 'योग' का सर्वाधिक महत्त्व है। योग एक साधना-पद्धति है और सभी धर्मों में इसका विशेष महत्त्व है। विशेषकर अध्यात्मप्रधान जैनधर्म में तो योग, ध्यान, तप और संयम आदि के बिना तो मुक्ति प्राप्त करना भी सम्भव नहीं है। निर्वाण प्राप्ति हेतु सभी तीर्थंकरों ने इन्हीं का उपदेश दिया है। तीर्थंकर पार्श्वनाथ और महावीर द्वारा प्रतिपादित योग साधना पद्धति के बहुत कुछ सूत्र में हमें उपलब्ध आगमों में मिलते हैं। इन्हीं का आश्रय लेकर जैनाचार्यों द्वारा रचित योगविषयक शताधिक ग्रन्थ उपलब्ध हैं और कितने ही ग्रन्थ अभी तक अज्ञात रूप में शास्त्र भंडारों में संपादन एवं प्रकाशन की प्रतीक्षा में हैं।

यद्यपि योग जैसी महत्त्वपूर्ण साधना पद्धतियों को धर्म या सम्प्रदाय विशेष से बांधना उनके प्रति अन्याय ही कहलायेगा, किन्तु जिस धर्म विशेष में आध्यात्मिक विकास हेतु जिस प्रकार की साधना का मार्ग प्रतिपादित किया जाता है, उस साधना पद्धति या मार्ग को हम उस धर्म से सम्बद्ध नाम दे देते हैं।

इसलिए जैनयोग, बौद्धयोग, वैदिक परम्परा का योग आदि रूपों में 'योग' प्रचलित देखा जाता है। इन सबमें अधिकांश विषय समान होते हुए भी सभी की अपनी कुछ भिन्न प्रकार की विशेषतायें भी हैं फिर भी सम्पूर्ण भारतीय योग साधना के द्वार परस्पर इतने खुले रहे कि उदारतापूर्वक सभी परम्पराओं ने एक दूसरे की साधना पद्धतियों की अच्छी बातों को ग्रहण करने में किसी प्रकार का संकोच नहीं रखा। इसलिए सभी धर्मों में इन योग पद्धतियों का पर्याप्त विकास हुआ और साहित्य सृजन भी विपुल मात्रा में हुआ।

हमारे देश को प्रारम्भ से ही अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर आध्यात्मिक गुरु के रूप

*अनेकान्त भवनम्, बी-२३/४५-पी-६, शारदानगर कालोनी, नबावगंज मार्ग, वाराणसी- २२१०१०

में ख्याति प्राप्त कराने में इस योग-ध्यान पद्धति का योगदान भी सर्वाधिक है।

जैन परम्परा में आचार्य धरसेन, कुन्दकुन्द, शिवार्य, वट्टकेर, देवनन्दि-पूज्यपाद, शुभचन्द्र, हरिभद्र, गुणभद्र, हेमचन्द्र, रामसेन और यशोविजय जैसे शताधिक आचार्यों ने योगविषयक अनेक शास्त्रों का प्रणयन किया। जैनाचार्यों द्वारा रचित योगविषयक अनेक छोटे-बड़े ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। इसके साथ ही आध्यात्मिक, तात्त्विक तथा आचार संबंधी, प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश भाषा में रचित अनेक ग्रंथों में भी 'प्रसंगानुसार' जैनयोग-ध्यान पद्धतियों का बड़ी ही सूक्ष्मता से विस्तृत विवेचन देखने को मिलता है। इतना ही नहीं अपितु इस बीसवीं शताब्दी में भी अनेक विद्वानों और मुनियों ने जैनयोग पर काफी ग्रन्थ तो लिखे ही, साथ ही जैन आगमों में बीज रूप में उपलब्ध तथा जैनाचार्यों द्वारा लिखित योगविषयक, विशाल ग्रन्थों के आधार पर जैनयोग का प्रायोगिक रूप में प्रभावी ढंग से काफी प्रचार-प्रसार भी हो रहा है। 'प्रेक्षाध्यान' नामक नव प्रचलित प्रभावी जैन योग-साधना पद्धति के द्वारा वर्तमान युग में योग के प्रति लोगों का आकर्षण बढ़ा है। विस्तृत जैन योग-ध्यान पद्धतियों को प्रभावी बनाकर इन्हें पुनः प्रतिष्ठित करने में प्रेक्षाध्यान नामक योग पद्धति का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

किन्तु एक तरफ जैन-योग की पुनः प्रतिष्ठा हेतु श्रमण और श्रावक संघ उत्साहपूर्वक प्रयत्नशील हैं, वहीं यह देखकर बहुत कष्ट होता है कि देश के कोने-कोने के अनेक मंदिरों तथा अन्य स्वतंत्र हस्तलिखित शास्त्र भंडारों में संरक्षित आज भी योगविषयक अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ अपने उद्धार की प्रतीक्षा में हैं। यदि समय रहते उनका उद्धार नहीं हुआ तो संभवतः वे कुछ समय बाद नष्ट हो सकते हैं और हम हमेशा के लिए इस महत्त्वपूर्ण ज्ञान राशि से वंचित हो जायेंगे। अतः इस दिशा में हमें सदा जाग्रत रहने की आवश्यकता है। इसी उद्देश्य से मेरी प्रारम्भ से ही हस्तलिखित शास्त्रों के सम्पादन/प्रकाशन के प्रति गहरी रुचि है। पार्श्वनाथ विद्यापीठ में यद्यपि अल्पसमय ही यह कार्य करने का अवसर प्राप्त हुआ, फिर भी विद्यापीठ में संरक्षित अनेक हस्तलिखित ग्रन्थों में से लगभग बारह लघुग्रन्थों का कुछ पूर्ण, कुछ-अपूर्ण सम्पादन कार्य कर लिया था। इनमें से कुछ का श्रमण के पिछले अंकों में प्रकाशन हो चुका है। उस समय के कुछ अधूरे सम्पादित ग्रन्थों को पूरा करने में अभी भी निरन्तर प्रयत्नशील रहती हूँ। इसी श्रृंखला में 'जोगरत्नसार' नामक लघुग्रन्थ प्रस्तुत है । यद्यपि इस ग्रन्थ की एक मात्र प्रति होने और वह भी काफी अस्पष्ट होने के कारण इस कार्य में मुझे काफी श्रम और समय लगा, किन्तु मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि विद्यापीठ के निदेशक डॉ० सागरमल जी जैन के निरन्तर प्रोत्साहन और सहयोग से इसे प्रकाश में लाने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ।

प्रस्तुत ग्रन्थ की पाण्डुलिपि का परिचय

'जोगरत्नसार' नामक प्रस्तुत लघुग्रंथ की पाण्डुलिपि पार्श्वनाथ विद्यापीठ के पुस्तकालय में संरक्षित है। प्रस्तुत पाण्डुलिपि में कुल १० पत्र (२० पृष्ठ) हैं। प्रथम पृष्ठ को छोड़कर इनके दोनों ओर लिखा गया है। प्रत्येक पत्र की लम्बाई ९ इंच और चौड़ाई ५ इंच है। पत्र के चारों ओर १ इंच जगह छोड़कर बीचों-बीच लिपिबद्ध किया गया है। प्रत्येक पृष्ठ में १०-१० पंक्तियाँ हैं। प्रत्येक पंक्ति में १२ से १५ तक शब्द हैं। इस ग्रन्थ को देखने-पढ़ने से यह पुरानी हिन्दी भाषा का पद्यमय मूल ग्रंथ लगता है किन्तु इसका गहराई से अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है कि यह ग्रन्थ प्राकृत या संस्कृत का हिन्दी पद्यानुवाद है, जो कवि द्वारा चौपाई और दोहा छन्दों के निबद्ध किया गया है । ग्रन्थानुसार इसमें कुल ४६ पद हैं; जिनमें २३ दोहरा है, जो प्रत्येक ९ से १० तक की पक्तियों के पद (चौपाई-छंद में रचित) के बाद लिखे गये हैं। लिपि स्पष्ट होते हुए भी दुरूह है, अशुद्धियाँ भी भरपूर हैं।

ग्रन्थनाम

पत्र के प्रत्येक हाशिये पर **'जोगरत्नसार'** ग्रन्थ का नाम लिखा है तथा कृति के ४५ वें पद में ग्रन्थ का नाम 'रत्नजोग' तथा विषय 'अष्टांग जोग' का उल्लेख किया गया है। कृति के अंत में "इति श्री रत्नजोग शास्त्र भाषा समाप्त" लिखकर समापन है। अत: प्रस्तुत पाण्डुलिपि संस्कृत या प्राकृत ग्रन्थ का हिन्दी पद्यानुवाद प्रतीत होती है। फिर भी इसमें प्रतिपाद्य विषय के अनुसार इस कृति का उपयुक्त नाम "जोगरत्नसार" (योगरत्नसार) ही होना चाहिए।

लेखन एवं समय

इस कृति में रचनाकार का कहीं स्पष्टीकरण नहीं है। परन्तु कृति के ४३वें पद की तीसरी-चौथी पंक्ति के या अन्य उल्लेखों के अनुसार 'मगन' नाम सम्भवत: रचनाकार का ही लगता है। इसी प्रकार कवि ने अपने गुरु 'पूरणस्वामी' के नाम का उल्लेख मंगलाचरण के अतिरिक्त और भी कई जगह किया है। किन्तु निश्चित न होने से इस लघु ग्रन्थ को अज्ञात कर्तृक ही मानकर चल रहे हैं। ग्रन्थ का आरम्भ "ॐ श्री जिनाय नम:" से किया गया है। परन्तु विषय की दृष्टि से यह ग्रन्थ "जैनयोग" से सम्बन्द्ध नहीं लगता। अत: स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ अष्टांग योग से संबंधित है उसमें भी हठयोग का स्पष्ट प्रभाव इस पर है। इसकी भाषा सहज, सरल और गेय रूप है। और हिन्दी साहित्य के मध्यकाल जैसी प्रतीत होती है अत: इसका समय भी १८ वीं के आस-पास माना जा सकता है।

विषय परिचय-

योग शब्द की व्युत्पत्ति युज् धातु से मानी गई है, यह धातु पाणिनि के अनुसार दो अर्थों में स्वीकृत है- १. संयोग और २. समाधि। पंत्तञ्जलि कृत योग समाधि अर्थ में स्वीकृत है जबकि आचार्य हरिभद्र ने सर्वत्र संयोगार्थक योग को ही स्वीकार किया है। इस प्रकार अर्थ की दृष्टि से दोनों परम्पराओं में भिन्नता दिखाई देती है, परन्तु अनेक विभिन्नताओं के होते हुए भी समानता का आभास होता है क्योंकि 'समाधि' साध्य का और संयोग साधना का प्रतीक होने से एक दूसरे के पूरक हैं।[१]

महर्षि पतञ्जलि ने चित्तवृत्तियों के निरोध को योग की संज्ञा दी है, जबकि प्राचीन जैन आगमों में मन-वचन और कार्य की एकाग्रता को योग कहा है। आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में 'काय-वाङ् -मनःकर्म योगः' (६/१) योग को परिभाषित किया है। जैन आगमों में आध्यात्मिक साधना के संदर्भ में योग शब्द की अपेक्षा संवर, समाधि, तप, ध्यान आदि शब्दों का प्रयोग, 'योग' के समान अर्थ में हुआ है।

मूलाचार (५/१५९) में - स्थान, शयन, आसन आदि धर्मोपकार के हेतुभूत विविध साधनों से शास्त्रानुसार विवेकपूर्वक वृक्षमूल, अभ्रावकाश, आतापनादि से शरीर को परिताप देना, कायक्लेश तप कहा गया है तथा भगवतीआराधना' (गाथा २२२ से २२७) में आसन योग, मगनयोग, स्थानयोग, शयनयोग और अपरिकर्म- इन पांच योगों में कायक्लेश तप को विभक्त किया गया है।[२]

प्रस्तुत पाण्डुलिपि में योग के यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि इन आठ अंगों का प्रयोगात्मक रूप में वर्णन है इसे 'हठयोग' भी कहा जाता है।

योग की भिन्न-भिन्न व्याख्यायें दार्शनिकों ने की हैं परन्तु जैन परम्परा में योग का अध्ययन आत्मविकास के चरम शिखर पर चढ़ने का मार्ग माना गया है। भारतीय दर्शन आत्मा का दर्शन है और इसके लिए साधना अर्थात् योग का प्रथम स्थान है। मन, वचन और कर्म को संयत रखना ही श्रेष्ठ योग है। जैन दर्शन प्रत्येक वस्तु एवं भाव में निश्चय और व्यावहारिक इन दो दृिष्टियों से विश्लेषण करता है। अतः योग के भी दोनों पहलुओं पर विचार किया गया है। व्यावहारिक दृष्टि से आसन आदि क्रियायें बाह्य और यम, नियम, ध्यान आदि क्रियायें का आतंरिक मानी गयी हैं।

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि- ये य़ोग के अष्टांग हैं। इनमें प्रथम यम के अन्तर्गत- अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह (त्याग), अस्तेय जैसे व्रतों का पालन अनिवार्य है। इसके पश्चात् ही आगे के अंगों का प्रयोग संभव है। सिद्धासन, पद्मासन जैसे मुद्राओं को देवत्व का गौरव प्राप्त है। सभी के लिए म़न, वचन, काय का एकाकार होना जरूरी है। वस्तुतः यम, नियमों की साधना मानसिक परिष्कार के लिए आवश्यक है तो आसन, प्राणायाम का अभ्यास

शरीर को सुव्यवस्थित रखने के लिए जरूरी है। इन आरंभिक अभ्यासों के बाद प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि की यथार्थ साधना संभव है और तभी अष्टांगयोग की साधना पूर्ण और सफल मानी जाती है जो कि योग विषयक इस लघुग्रन्थ का मूल प्रतिपाद्य विषय भी है जिसे सम्पादित रूप में पहली बार प्रकाशित करने में प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। अब यह सम्पूर्ण मूल ग्रन्थ प्रस्तुत है।

''जोगरत्नसार''

ॐ श्री जिनाय नमः

मंगलाचरण

प्रथमै वंदो आदिगुरु देवा, तिहि प्रसादि पाईये निज भेवा।
आदि देव पूरण गुरु स्वामी[३], सर्व्वभूत महि अंतरजामी।

आत्मा की खोज

अगम अगोचन लख्यो न जाई, कहाँ सै उपजै कहां जाई समाई।
ताकौ खोजैं देव मुनिंद्रा, जती जंगम संन्यास जुगिंद्रा।
आत्म आदि अलख है सोई, सभ मैं रहैं लखै जन कोई।
जप-तप मैं जगत् उझाना, तन-मन का कछु खोज न जान्या।
नाटारंभ करै संसारा, पूजा-पाठी बहु विस्तारा।
वेद-पुरान पढ़ै बहु पोथी, ग्यान बिना सगरी है थोथी।
यंत्र-मंत्र बूटी पाखंडा, माया हेत सहै जमदंडा।
त्रिगुण[४] माहि जगत उरुझाना, उरझ मूवा कछु भेद न जान्या।।१।।

दोहरा

जगझूला जंजाल मैं, सुन-सुन कथता ग्यान।
तन-मन की कछु सुध नहीं, कक-वक भया हैरान।।

आत्मा के अहितकारी

चौपाई

पांच चोर लागे या संगा, ताके भीतर पंच-पंच अंगा।
काम-क्रोध-लोभ-मोह-माया, बिन दंता जिन सब जग खाया।
तृष्णा अग्नि काया को जारै, मनसा नागिनि ले नरकि उतारै।
आसा काल रहै घट माही, अहि-निशि व्यापै मर-मर जाहीं।
अवर अनेक दुष्ट है लागै, सन्मुख सूझैं कबहुं न भागैं।

गुरु-ज्ञान की महिमा

ग्यान खड्ग[५] ले मन कुं मारै, गुरु का शब्द घट माह विचारै।

अगम-अगोचर यह मन भाई, सतगुरु पाया जुगति बताई।
प्राणपिंड का भेद लखाया, सभ दिशि छांडि आपि घर आया।
गुरु का शब्द गहै हथवाना, चंचल मिरगा स्थिर ठहराना।।३।।

दोहरा

क्षिमा संतोष घर पाइया, उपजी अनभय रीत।
'पूरण स्वामी' गुरु मिला, टूटी भरम की भीत[६]।।४।।

चौपाई

भरम गया तथ[६अ] आप पिछाना, खंड छोड पिंडे उरझाना।
धरत पाताल कहीये आकाशा, तीनि लोक घर माहिं प्रकाशा।
जो खंडे सो पिंडे कहीये, पिंडै सो ब्रह्मंडे लहीये।
अंड रूप शरीर कौ जान्या, ताकै भीतरि सभइ स्थाना।
ज्ञान भये सतगुरहि लखाया, सूक्षम में स्थूल समाया।

पंचतत्त्व की महिमा

पंचतत्त्व[७] का पिंड पर मैं ठाना, गुरुकिरपा तें सहज दृष्टाना।
तत्त्व-तत्त्व का न्यारा वास, पृथ्वी-अप्प-तेज-वायु-आकाश।
पृथ्वी पिंड अप्प है पावी, लोहू तेज वाय कर जानी।
आकाश भास नै शब्द कीया, पंच तत्त्व का नामसम लीया।
पंच तत्त्व जानै जोगिंद्रा, गुरु का शब्द ले पावै मुंद्रा ।।५।।

दोहरा

पंचतत्त्व का पिंजरा, तामै पंछी प्राण ।
त्रिकुटी[८] ऊपर सुंन्न है, तहां अलख पुरुष निरवान ।।६।।

चौपाई

तहां प्राण पिंड विखडा भेद, मन पवना लै सुख मन छेद।
अजर विंद आसा दहि वाई, युक्त बिना राखी नहि जाई ।
विंदु करै वाय सदा निकसै, उरध कवल कछु क्यों कर विगसै ।

षट्चक्र

षट्चक्र[९] सोला आधारा, चार सुन्न तीन दश द्वारा।
प्राण-अपान-व्यान-समाना, पंचम वाय कहीयै उदाना।
कूर्म्म-नाग-कील-कचवाय, धनंजय देवदत्त सभै समाय[१०]।
नाग वाय तें उठै उद्गार, कूर्म्म वाय मैं नेत्र आधार
कील कचवाई छींक कौ करै, देवदत्त जंभाई फुनि धरै।।७।।

दोहरा

वाय धनंजय साधीये, दृढ़कर जोगाभ्यास ।

जाते फूलै देह सभ, छोडि जाइ तब स्वास ।।८।।

अष्टांगयोगानुसार आठ अंगों के नाम

जोगाभ्यास कहीये अष्टंगा[११], सम्मुख झूकै होई निसंगा।
जोगाभ्यास नहीं आसाना, आठ पहर का युद्ध बखाना।
तत्त्व योग बिन मुक्ति न होई, तन-मन साधै सूरा सोई ।
अब आठ अंग के वरनों नाम, यम-नेम-आसन-प्राणायाम ।
प्रत्याहार पंचमा कहीये, ध्यान-धारणा ते निज पद लहीये।
अष्टम अंग अब कहै समाध, आठों साधै मिटै उपाध ।।

षट्कर्म

षट्कर्म[१२] करै काया कों धोवै, बिन षट् की ते आठ न होवै ।
नेती-निवली-बसती-धोती, धोती कर तें त्राणक[१३] होती ।
आठ-छह साधै जिन-जोगी, दिन-दिन वाला कबहु न रोगी ।
सो कहीये जोगिंद्र पूरा, उलटै पवन बजावै तूरा ।।९।।

दोहरा

उलट पवन ऊरध कों ताने, रहे सुन्न लिव लाई ।
वंक नाल को उलट कै, गगन पहुचे जाई ।।१०।।

चौपाई

भेद यक अब और बखानै, वंद भेद मुद्रा फुनि जानैं।
ताकै तीन भेद फुनि कहै, जाकै साधै निज पद लहै।
मनूवा बांधि प्रान फुनि बेधै, इंद्री मूंदि मेर को छेदै।
नाद विंद गांठि जब परै, उलट वीर्य तब ऊपरी चढै।
जहां वारा सूरज सोला वंद, जो जानै नहीं सो कही(हि)ये अंध ।
वारा-सोला समकर पीवै, चारौ साधै वारा जीवै ।
भय-आहार-निद्रा अरु काम, ए चारि कला सूरज के नाम।
ऊरम धूरम जोत उजारा, चार भेद बूझे निस्तारा ।
प्रथमे जोग जुक्ति की येही, जो साधे तिस परै न देही ।।११।।

दोहरा

धरण गगन कै अंतरै, चंद-सूर[१४] कौ मेल ।
सो योगी गुरु मुख लहै, अगल कला कौखेल ।।१२।।

चौपाई

अष्टांग योग के अन्तर्गत
आठ अंगों के लक्षण

१. यम

अब आठ अंग के भाखौ लछन, जिव्हा इंद्री स्वाद विचछन ।
हंसा[१५] चोरी चित नहीं देवै, माया मनसा वसि करि लेवै।
सत-संतोष-क्षिमा मन गहै, साध-सेवा मैं अह-निशि रहै।
दंभ गर्भ[१६] परपंच नहि गहै, प्रथमैं लछन काम के लहै।

२. नियम

नेम अंग अवर कहीयै दूजा, काया दे बल आत्म पूजा ।
दया-दान-संयम व्रत करैं, काम-क्रोध चितते परिहरै।

३. आसन

तीजा[१७] अंग आसन अब कहै, ताकै साधै निजपद लहै ।
जेते जीव तेते फुनि[१८] जान, तामे दोई आसन परधान ।
एक पद्म-सिद्धि फुनि कहीये, ए दोनों भेद सतगुरु ते लहीये ।
वामैं ऊपर दहना पावा दहिने ऊपर वाम धरावा ।।१३।।

दोहा

उलट दृष्टि त्रकुटि धरै, हिरदै धरीये ध्यान ।
भृंग ह्वै घट संचरै, तां भेटैं[१९] भगवान ।।१४।।

आसन के मुख्य प्रकार

पद्मासन

चिबुक निवाई नीच फुनि धरैं, दोनों हाथ पाछैं को करैं।
वाम अगूंठा वाम कर गहै, दाहने सौ दाहना गहि रहै।
इस प्रकार पद्मासन जान, अब दूजा आसन सिद्धि बखान ।

सिद्धासन

जोनि संघ वामेंद्री धरै, उलट-पवन पछम को भरैं।
दूजा पांव इंद्री पर धरै, कंधयोनि संपीडन करै।
उलटि दृष्टि ऊपर को देखै, भूम कै मध्य कछु अचरज देखै।
इह प्रकार है आसन कहै, तिन्ह आसन कुं निहचल गहै।
प्रथमै वाधै मूल दवारा, बिना अग्नि तहां उठै उजारा ।
चार दल कवल जहां लागे वंद, सप्त पाताल की छुटकी संधि ।
चउ के मध्ये करै निवास, तव खुल्है संखनी होई प्रकास ।।१५।।

दोहा

प्रथम कवल चार मूल, द्वितीय चक्र स्थान ।
ताकें ऊपरि षष्ठदल, गुरु किरपा ते जान ।।१६।।

चौपाई

नाड़ियों के नाम और उनके स्थान

ताके भीतर लागे बंद, जोग जुक्ति स्यों साधो कंद।
ताकै ऊपरि खग अण्डाकार, सकल नाडी[२०] का तहां विस्तार।
अध ऊरध नाडी तिह ठौर, तामै जीव वसै इक भौर ।
तामें दशनाडी परधान, तिनके नामहि करौ वख्यान ।
इडा-पिंगला-सुषमनि नाड़ी, लंवक-पुरुषा अरु गंधारी।
दंड मारगी और सुमति जान, सत्य संखिनी मूल स्थान।
तामै तीन नाड़ी परधान, इडा-पिंगला-सुषमना जान ।
तीन पंथ-तीनस्थान, ताकै ऊपरि बसै अपान
पछम दंड का विखडा घाट, जहां तिह पेंडा तहां निज वाट
।।१७।।

दोहा

मेरुदण्ड सूधा करै, गमन चढै तव जाइ ।
बज्र सिला को फोरि कै, रहै सून्य लिव लाई
।।१८।।

चौपाई

मूलवंध[२१] स्थिर ठहराना, नाभिचक्र तब जाइ समाना ।
नाभिचक्र दश अंगुल नाल, पवन फेर ताकौ उछाल।
तहां शक्ति कुंडिलिनी का डेरा, द्वादश हंसा शक्तिहि घेरा ।
अष्ट प्रकार कुंडलि है कीया, कुंडल वांधि नाभि पर दीया।
तहाँ नाभि कमल की विषडी घाटी, निश-दिन जौ अग्नि की भाठी।
तामैं तीन तत्त्व को वास, पानी पवन अग्नि परगास ।
तहां वंक नाल का उलट दुवारा, हर-हर होत शब्द ओंकारा।
अजपाजाप तहां फुनि होई, गुरु प्रसाद लखै जन कोई ।
हकार शब्द बाहर को आवै सकार शब्द भीतर फुनि जावै।

४-प्राणायाम

शिव हकार है शक्ति सकार, अजपा जाप का यही विचार ।
अब चौथा अंग कहै प्राणायाम[२२], रेचक-पूरक-कुंभक[२३] नाम ।।१९।।

दोहरा

तीन प्रकार कौ खेल है, विरलो जानै कोइ ।
सतगुरु पूरो जिहि मिलै, इह विधि पावै सोई ।।२०।।

चौपाई

लेती वार कौ पूरक करै, कुंभक सो जौगहि ले रहै।
रेचक[२४] सो जो छूटे वाइ, तीन प्रकार ये भेद कहाई ।
द्वादश लेके पूरक[२५] करै, षोडश करके कुंभक भरे।
दश ओंकार तें रेचक होई, ओंकाक्षर जाप को जाणै कोई ।
तब कुंभक[२६] कुंभ संपूरण होई, रेचक पूरक रहि जावै सोई ।
तब उलट पवन पच्छम को चले, गरजै गगन देह सभ[२६] हलै।
प्रथम अभ्यास ते उपजै कंपेव, अधिक अभ्यासतै उपजै परसेव[२७]।
तब भवर गुफा कै भीतर वडै, उलटि पुलटि मीडंक ह्वै परै।
करम भवंगम साथै करमां, उलटै देही पलटै चरमां।
छूटै भिक्षा भोजन गाउ, निहचल जोगी ताका नाउ।
करम परम गम जानै कोई, सतगुरु मिलै कमावै सोई ।।२१।।

दोहरा

मन पवना जब एक होंहि, लीनभय निज नाद।
अलख पुरुष तब पाइ दया, सुविधा मिटी उपाधि।।२२।।

चौपाई

एक और गुह्य है नारी, गुरु मुख जोगी कि नही विचारी।
अगम-अगोचर उरध मुख द्वारा, पश्चिम मारग विषडी धारा।
गुरु प्रसादि जब तिहि धरि आवै, थर-थर करतें शरीर उठावै
तहां वंध उडानी नीका लागे, जरा-मरण तहां सभ किधु भागै।
रूखे विरखे ताका वासा, आसा माही रहे निरासा।
द्वादश कमल प्राण का वासा, तामै अष्ट कमल परगासा।
उलटा मुख ताका विगसाना, जोति सर्व शब्द परगाटाना।
तहां लिंग शरीर का वासा, अलटै कवल तब होई विगासा।
कंठ-कवल षोडश जान, शिव-शक्ति तहां वसै समान।
तिहि स्थान जीव का वासा, हिक हकार से मिलै सवासा।
सो कहीये खंड पिंड की संधि, तहां लागै जल रवि-चंद।।२३।।

दोहरा

विषडा चक्र कंठ का, तहां जीव शिव का वास।
उलट प्राण पद मै वसै, नख-शिख भया प्रकाश ।।२४।।

५. प्रत्याहार

चौपाई

तहां प्रत्याहार[२९] फुनि कीजइ भाई, जातैं अमृत अग्नि निषाई।

षोडश नित सूर जै रहै, द्वादश बांधे अंमृत कहै।
सब इंद्री तव सहज मिलावै, जैसे कछुवा अंकु[३०] सुकचावै।
सो द्वादश प्राणायाम का प्रत्याहार, गुरु कृपाते कला विचार।

६. ध्यान

अब च्यारभेद ध्यान के बखानें, नासका अग्र ले मनुवा आनै
धूम रंग तहा पुहप प्रकास, फुनि कछु दीसै प्रत्याभ्यास।
दूजै ध्यान तें ऊपर देखै, रक्त वर्ण नीलांबर पेखै।
सर्व्व अंग तहां विजली दमकै, मिटै अंधेरा तहां अचरज चमकै।
तीजी संधि भृकुटी निज द्वारा, जाके खुल्है हुई उजियारा।
दीपक लाट तहां ज्योति दिखावै, पाछे सोम मंडल हुई जावे।।२५।।

दोहरा

अनंतरूप जहा देखी यहि, कह्या कछु नहीं जाई।
अचरज हुई अचरज मिल्या, सतगुरु दीया लखाई।।२६।।

चौपाई

अब चौथा ध्यान गगन स्थान, तहां दीसै अलख रूप भगवान ।
अखंड दीपक जलै विन वाती, तहां ब्रह्मरंध की सूक्षम घाटी।
अनंत रूप तहां अनंत प्रकासा, गुरु प्रताप तहां कीये निवासा।
सो निज स्वरूप स्थाना, जिन जान्या तिन गुरु मुख जान्या।

७. धारणा

अब पंच तत्त्व की धारणा कहै, जातै पिंड सदा थिर रहै।
तामै बीच मंत्र सभ आवै, दुर्लभ देह कोउ जन पावै।
हिरदै तलै पृथिवी स्थान, हेम रूप ताका है जान।
चार कोंण पृथ्वी है तहां, ब्रह्म देव वीजलम जहां।
मन पवना तहां श्रमकर धरै, सुध विसरै तहां जीवत मरै।
इस धारणा ते वायु ठहरावै, काया जीति अमर पद पावै।।२७।।

दोहा

पृथ्वी तत्त्व की धारणा, विरला जाणई कोइ।
मनसा-वाचा-कर्म्मणा, रोग शोक नहीं होई ।।२८।।

चौपाई

अप्प तत्त्व की धारणा

दूजी धारणा अप्प की जान, ताका कंठ बीच स्थान ।
प्रभाचंद सूत है रूप, वकार बीज तहां विष्णु सरूप।

मन पवना तहां वसगत करै, विनय व्याधि काल कों हरै।
अप्प तत्त्व की धारणा कही, सतगुरू ते जब अनभै लही।

तेज तत्त्व की धारणा

अब तेज तत्त्व की धारणा जान, नैन नासिका मध्य स्थान।
रक्त वर्ण त्रिकोणा है तहां, रुद्रदेव वीजलम जहां ।
तिह स्थान मन पवाना धरै, ब्रह्मग अग्नि कौ उतपत करै।
अब तेज तत्त्व की धारणा जानी, गुरु किरपा तें सहज दृष्टानी।

वायु तत्त्व की धारणा

चौथी धारणा वायु की पाइ, त्रिकुटी स्थान जाई लिवलाई ।
श्याम रंगत तहां ईश्वर देव, जैकार वीज लै कीजै सेव ।।२९।।

दोहा

मन पवना जब एक हुई, लीन भये निजनाद।
मन-मन की तहां सुधि गई, लागी सुन्न समाध ।।३०।।
मन पवना तब तिहि धरि ल्यावै, निहि चित्तवै तिहि जाई समावै।
वाय तत्त्व की धारणा भाखी, कोट मध्य किन विरलै लाखी।।

प्रकाश तत्त्व की धारणा

आकाश तत्त्व का कवन स्वरूप, जैसे निर्मल जल को रूप।
ब्रह्मरंध ताका स्थान, तत्र देत सदा शिव जान।
'ह' कार बीज आत्म है सोई, मन पवना तहाँ वसगत होई।
खुल्हें कपाट अचरज दृष्टावै, आकाश धारणा ते मोक्ष पद पावैं।
पंच धारणा जानै कोई, भिन्न भिन्न साधै जोगी खोई
आत्मतत्त्व जोग तै पावै, निज स्वरूप में जाई समावै।
अब भृकुटी तिहुरी मन का घाट, त्रिवेणी संगम[३१] तिलक ललाट।
दो दल कमल समई स्थान, चंद-सूर ले तहां समान।।३१।।

दोहा

चंद-सूर कै अंतरे, अगम अगोचर संघ।
सतगुरु मिलै तपाइये, मन पवना तहां बंद ।।३२।।

खेचरी मुद्रा

सुरत निरतले निहचल रहै, कछु नैन नासिका निरंतर लहै।
इडा-पिंगला-सुषमना घाट, गुरु कृपा तें खुल्हे कपाट ।
गुरु प्रसाद कुछ गुरु लछ करे, जिव्हा उलटि करि तिहि धरि धरै।
खेचरी मुद्रा का लावै वंद, उलटि वायु थिर होवै कंद।

तहां भंवर गुफा का पश्चिम घाट, मेरुदंड शिर ऊपर वाट।
तहां करै महारस अमृतं नीर, रुधिर पलटै होवे खीर (क्षीर)।
रोग-शोग सुपनै नहीं आवै, जो को भेद खेचरी पावै।
क्षुधा-तृष्णा-मोह नहीं व्यापै, जरा-मरण नहि दुःख संतापै।
सकल मुद्रा महि खेचरी परधान, सिद्ध परम दोउ उत्तम जान।
जब चौघट घाट-वाट तरि आवै, तब आगै मारग सूधा पावै।।३३।।

दोहरा

जन्म-मरण का शंका गया, निहचल भया शरीर।
सुरत समानी शब्द में, निज स्वरूप गृह (घर) धीर ।।३४।।

चौपाई

अब अष्ट पर्व्वत है उत्तरखंड, ताकै उपरि सप्त ब्रह्मंड।
गुरु प्रसादि चढ़या अकाश, तीन दल घर चौथे वास।
षट् गढ़ भेद गगन चढि गाज्या, अनहद उपजी अनहद वाज्या।
त्रिकुटी ज्योति अचरज दृष्टाना, अचरज देखि भवर उलष्ठाना।
अनाद अनहद[३२] तहां किंगुरी बाजै, अवृंत वरसै गगना गाजै।
गर्जि-गर्जि वरसै नित गगना, पश्चम हूँ उलटे मन मगना।
सुन्न सरोवर सुरत समावै, सुद्ध होई अचरज पद पावै।
गाजै गगन चमकै नित ज्योति, कंधर वरखै माणक मोती।
सुन्न सरोवर तहां अचरज देखै, है नाही तहां सम कि पेखै।
उन-मन घाट-मन जाई समाना, कथन वक सकल विसराना।।३५।।

दोहरा

उन-मन लागी सुन्न में, निसदिन रहै गलतान।
तन-मन की तहां सुध गई, पाया पद निर्वाण ।।३६।।

चौपाई

अैसा अगम पंथ अमीस्थान, मान सरोवर कवल विगसान।
अनंत हजार जहां पंखडी जागी, अजपाजप[३३] सौ डोंडी लागी।
तामै परमहंस का वासा, सोहं शब्द तहां परगासा।
तामै चैतन्य पुरुष का वासा, उलटै कवल तब होई विगासा।
तहां ब्रह्मरंध्र[३४] की सूक्ष्म घाटी, ताकै उपरि सिल की पाटी।
सो अलख रूप निरंजन स्थाना, तामै भेटीये श्री भगवाना।
तिहिं यथा नमन भई प्रतीत, आत्म तत्त्व की निरमल रीत ।

८. समाधि

अष्टम अंग अब कही समाध[35] तामै सगरी मिटे उपाध।
साधन वाधन कछु नहीं रहै, सगल त्याग नाद को गहै।
नाना विधि सौ नाद कहावै, ताकै सुने विशम हुई जावै।।३७।।

दोहा

नाद नाद सभ को कहै, नाद सुनै जन कोइ।
आज रूप निरंजना, तत्त्व पिछाने सोई ।।३८।।

नाद- (ध्वनि)

चौपाई

अब तामै तीन नाद[36] परधान, प्रथम नाद को सूक्षम जान।
द्वितीय नाद मेघ जों होई, भवर नाद तीजा है सोई।
भवन गुंज ताका है नाम, सो आत्म पुरुष का कहीये धाम।
सुन्न शब्द फुनि कहिये सोई, सकल उतपत नाद तें होई।
आदि अंत नाद परधान, अनहद नाद[37] सदा शिव जान।
अंतर ज्योति नाद तैं छाई, आपा चीन्हि चैतन्य गति पाई ।
तहां निज परमात्मा का वासा, उलटै कवल तब होई विगासा।
अखंड अडोल अलख है जहाँ, चर्म्म दृष्टि की गम नहीं तहां।
दिव्य चक्षु से देखै कोई, सकल निरंतर एको सोई।
स्वयंभु पद नाम है ताका, अनहद नाद मूल है जाका ।।३९।।

दोहरा

तहां समाने जहां तत्त्वपद, कह्या कछु नहि जाई।
अचरज हुई अचरज मिल्या, सतगुरु दीया बताई ।।४०।।

चौपाई

सो निर्भय महल तुरीया स्थान, नाद जोतिकुं आत्म जान ।
तहां अलख रूप अचरज[38] दृष्टावै, मगन होई मृतक विसमावै[39]।।
जब आत्मा परमात्मा को मिले, जैसे लोहू[40] पाणी में घलै।
तब गीता गाइन कछु नहिं रहै, निज समाधि को तब ही लहै।
तहां नांही-नांही सभ जग कहै, अचरज रूप कछु कह्या न पर है।
जहां नांही-नांही अनजानत कहै, जो जानै सो निजपद लहै।
जो समाधि महि सुख नहीं कोई, तो क्युं निद्रा समधि न होई।
जो एक होहिं निद्रा अरु समाधि, तौं काहे करीये कष्ट उपाधि।
सुन्न समाधि मैं अचरज भाई, क्या कहीये कछु कह्या न जाई
अचरज हुई अचरज परगासा, अचरज ठौर अचरज का वासा।

अचरज रूप अचरज दृष्टाना, अचरज मिल्या अचरज गलताना।४१।।

दोहरा

अचरज कहीये आत्मा, अचरज जाका भेष।
अचरज मिलि अचरज भया, अचरज ताकौ देष।।४२।।

चौपाई

अचरज होई अचरज जब पाया, अचरज उपजै अचरज विसमाया।
पद अपद दो अचरज जान, है नाही की संधि पिछाण।
गुरु प्रसादि मगन गति पाई, कथन वदन की सभ सुधि जाई
कहै मगन[४१] मगन सो नाहीं, बहुरि न आवै जो जन जाही।
मृतक होई भया विदेह, निज समाधि के लक्षण एह।
तहां है अलख और ही दूजा, ना तहां जीव ब्रह्म की पूजा।
नां तहां सुन्न शब्द आकाश, नां तहां मध्य सूक्षम विस्तार।
नां तहां तीनि लोक ब्रह्मंडा, नां तहां दिवस-राति रवि-चदां ।
शून्य अशून्य नां तहां होऊ, दोऊ की संधि लखै जन कोऊ।।४३।।

दोहरा

सून्य-अशून्य नहि आत्मा, कहिया कछु न जाई।
है नाही की संधि मै, सतगुरु रहै समाई।।४४।।
तिहि प्रसादि अनभय प्रगटांनी, सौम्य बुद्धि तब उपजी वानी।
अष्टांग जोग का भेद बखाना, आत्म रूप तातें निज जान्यां।
अध्यात्म विद्या यह कहीये भाई, भिन्न भिन्न करि प्रगटाई दिखाई।

ग्रन्थ-नाम

अष्टांग जोग ग्रंथ मैं भाख्या, रत्नजोग नाम ग्रंथ का राख्या।
गुरु उपदेश जो समझै कोइ, आत्मतत्व को पावैं सोई।
जोगारम्भ आदि है लोई, जो साधै सो सिद्धा होई।
आत्मभेद या मांहि बताया, भिन्न भिन्न कर प्रगटाई सुनाया।
जो समझे तिस रहे न संका, भावै कोउ सुनौ राज कै रंका
समझि विचार जो करणी करै, गुरु प्रसादि कबहूं नहिं मरै ।।४५।।

दोहरा

आदि अंति विधि जोग की, वरनी तत्त्व विचार।
मनसा-वाचा-कर्म्मणा, रत्नजोग जिन सार ।।४६।।

।।इति श्री रत्नजोगशास्त्र भाषा समाप्तं।।

।।शुभं/भूयात।।

संदर्भ

१. **जैनसिद्धान्तभास्कर**, वर्ष ४२, १९८९, ई०, पृ. ३८.

२. **मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन,** डॉ० फूलचन्द जैन 'प्रेमी' पृष्ठ १८०-१८१.

३. लेखक ने योग विद्या के **गुरुनाम उद्घोष** किया।

४. (१) सत (२) रज (३) तम (प्रकृति के गुण)-पातञ्जलि योगप्रदीप, प्राचीन संस्करण, पृ० ८५.

५. तलवार ६. दीवाल

६अ. तत्त्व (यर्थार्थ).

७. पंचतत्त्व- पृथ्वी, अप, तेज, वायु और आकाश.

८. त्रिकुटी - दोनों भौहों के मध्य का स्थान। इसे भ्रूमध्य भी कहते हैं.

९. षट्चक्र इस प्रकार हैं- मूलाधारचक्र, स्वाधिष्ठानचक्र, मणिपूरक, अनाहत,विशुद्ध और आज्ञाचक्र.

१०. दस प्राणवायु इस प्रकार हैं -

प्राणोऽपानः समानश्चोदान व्यानौ च वायवः।
नागः कूर्मोऽथ कृकरो देवदत्तो धनंजयः ।। **गोरक्षसंहिता**

प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान, नाग, कूर्म, कूकर, देवदत्त और धनंजय। इनमें आरम्भिक ५ वायु मुख्य हैं, शेष पांच वायु का कार्य इसी चौपाई में बतलाया है। प्रारम्भ की पांच वायु में प्राणवायु हृदय में, अपान गुह्यदेश में, समान नाभिमण्डल में, उदान कण्ठ में और व्यानवायु सम्पूर्ण शरीर में स्थित है।

पातंजल योगप्रदीप, (प्राचीन संस्करण), पृ० २५५-२६.

११. अष्टांग इस प्रकार हैं- यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि.

१२. षट्कर्म धौति, बस्ति, नेति, त्राटक, नौति और कपालभाति।

१३. त्राटक

१४. अष्टांगयोग में 'इडा' नाड़ी को 'चन्द्र' और 'पिंङ्गला' नाड़ी को 'सूर्य' नाम से अभिहित किया जाता है।

१५. हिंसा

१६. गर्व

१७. मूलपाठ-दूजा

१८. पुनि,

१९. प्राप्त= मिलेंगे.

२०. मनुष्य की प्राणवाहिनी नाड़ियाँ असंख्य हैं। इनमें प्रमुख इस प्रकार हैं- १. सुषुम्ना, इडा, पिंगला, गांधारी, हस्तजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, शूरा, कुहु, सरस्वती, वारुड़ी, अलम्बुषा, चित्रा, विश्वोदरी, शङ्खिनी आदि।

२१. वह केन्द्र जहां समस्त अवशिष्ट संवेदनाएं संचित हैं वह मूलाधार चक्र कहलाता है, वहाँ पर कुण्डलित क्रियाशक्ति को 'कुण्डलिनी' कहा जाता है।

२२. आसन के स्थिर होने पर श्वास-प्रश्वास की गति को रोकना प्राणायाम है।

२३. ये प्राणायाम के तीन भेद हैं।

२४. श्वास को बाहर निकालकर उसकी स्वाभाविक गति का अभाव।

२५. स्वास अंदर खींचकर उसकी स्वाभाविक गति का अभाव।

२६. श्वास-प्रश्वास दोनों गतियों के अभाव से प्राण को एकदम जहां का तहां रोक देना -ये तीन भेद प्राणायाम के हैं। **पातंजल योगप्रदीप** -पृ०४४१.

२७. सब

२८. पसीना

२९. इन्द्रियों के विषयों से विमुख होकर अन्तर्मुखी होना। "स्वविषयास्मप्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणा प्रत्याहारः ॥ **पातंझल योगप्रदीप**-४५५.

३०. अंग।

३१. 'इंडा' को 'गंगा' 'पिंगला' को 'यमुना' तथा इन दोनों के मध्यस्थान में जाने वाली नाड़ी सुषुम्ना को 'सरस्वती' कहते हैं। इस त्रिवेणी के संगमस्थान को त्रिवेणी संगम कहते हैं जो कि भृकुटी के भीतर है - **पांतजल योगप्रदीप** - पृ० २४१.

३२. भौतिक जगत् के परे जो दिव्यध्वनि हैं, जो सभी ध्वनियों का स्रोत है।स्वामी सत्यानन्द सरस्वती, **आसनप्राणयाममुद्राबंध**, पृष्ठ-३५२.

३३. स्वामी सत्यानंद सरस्वती **'सोऽहं' जाप की सम्पूर्ण योग प्रक्रिया - 'ध्यान' तन्त्र के आलोक में,** - पृ० १६६.

किसी मंत्र को बारम्बार दुहराने को जप कहते हैं, परन्तु जब मंत्र की सहज ही आवृत्ति होने लगती है तब जप-अजपा बन जाता है। वही, १५वां अध्याय,पृष्ठ १५०.

३४. उत्कृष्ट स्थान (जहां आत्मा को परमात्मा का दर्शन हो जाता है।)

३५. अष्टम अंग- ध्यान की चरम परिणति।

३६. नाद-चेतना का प्रवाह (सामान्य अर्थ में ध्वनि) ।

३७. अनहद नाद- दिव्यध्वनि ।

३८. आश्चर्य (आत्मा का परमात्मा से मिलन का अनुभव) ।

३९. मुस्कराये ।

४०. खून ।

४१. लेखक का नाम प्रतीत होता है।



छन्द की दृष्टि से तित्थोगाली प्रकीर्णक का पाठ निर्धारण

अतुल कुमार प्रसाद सिंह*

प्रकीर्णक शब्द 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातु से 'क्त' प्रत्यय सहित निष्पन्न 'प्रकीर्ण' शब्द से 'कन्' प्रत्यय होने पर बना है। इसका शाब्दिक अर्थ है - नाना संग्रह, फुटकर वस्तुओं का संग्रह और विविध वस्तुओं का अध्याय। जैन साहित्य में 'प्रकीर्णक' विशेष पारिभाषिक शब्द के रूप में प्रयुक्त हुआ है, जिसका सामान्य अर्थ है[१] - मुक्तक वर्णन। आचार्य आत्माराम जी ने प्रकीर्णक की व्याख्या निम्न प्रकार से की है- "अरिहन्त के उपदिष्ट श्रुतों के आधार पर श्रमण निर्ग्रन्थ भक्ति भावना तथा श्रद्धावश मूलभावना से दूर न रहते हुए जिन ग्रन्थों का निर्माण करते हैं, उन्हें प्रकीर्णक कहते हैं[२]।" परम्परागत मान्यता के अनुसार जिस तीर्थंकर के तीर्थ में जितने साधु होते हैं उस समय उतने ही प्रकीर्णक माने गये हैं[३]। इस प्रकार भगवान् महावीर के तीर्थ में चौदह हजार साधुओं के इतने ही प्रकीर्णक होने चाहिए पर यह केवल मान्यता है।[४] वर्तमान में उपलब्ध अधिकतम ३३ प्रकीर्णक हैं जिनमें से मात्र १० प्रकीर्णक श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय में आगम-रूप में मान्य हैं।

इस लेख का विषय तित्थोगाली प्रकीर्णक में कतिपय गाथाओं के पाठ का छन्द की दृष्टि से पुनर्निर्धारण है। इसके लिए मुनि पुण्य विजय जी द्वारा संपादित और महावीर जैन विद्यालय, बम्बई से दो भागों में प्रकाशित पइण्णय सुत्ताई नामक ग्रंथ में संकलित ३२ प्रकीर्णकों में से २०वां तित्थोगाली नामक प्रकीर्णक के पाठ को आधार माना गया है। इस प्रकीर्णक में कुल १२६१ गाथाएँ संकलित हैं, जिनमें कई गाथाओं के पाठान्तर शब्दों का उल्लेख पादटिप्पण या गाथा में ही कोष्ठक में किया गया है। तथा उनमें से कई एक पाठ निर्धारित न कर उसें यो ही छोड़ दिया गया है। प्रस्तुत लेख में इन गाथाओं का छन्द की दृष्टि से पाठ निर्धारित करने का प्रयास किया गया है।

प्रस्तुत तित्थोगाली प्रकीर्णक में सर्वाधिक गाथाएँ 'गाथा' छन्द में निबद्ध हैं। मात्र २० पद्य 'अनुष्टुप' छन्द की, ६ पद्य 'गाहू' छन्द की और ७ पद्य 'उद्गाथा' छन्द में निबद्ध हैं। इनमें अनुष्टुप की बीस पद्यों में से पाँच (गा० १११५ से १११९) गाथाएँ समवायांग में प्राप्त होती हैं तथा सात गाथाएँ (११२१-२७) समवायांग सूत्र

* शोधछात्र, जैन-बौद्ध दर्शन विभाग, प्राच्य विद्या धर्मविज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

के आधार पर ही रची गयी प्रतीत होती हैं। शेष १२२८ पद्य 'गाथा' छन्द में हैं। पर ये सभी मात्रा की दृष्टि से पूर्ण नहीं हैं। इनमें मात्र ५२१ गाथाएँ ही मात्रा की दृष्टि से पूर्ण हैं। अर्थात् इनके पूर्वार्द्ध में ३० मात्राएँ और उत्तरार्द्ध में २७ मात्राएँ हैं। शेष की ३८२ गाथाएँ ऐसी हैं जिनके पूर्वार्द्ध या उत्तरार्द्ध में एक मात्रा कम है, १०३ गाथाओं के पूर्वार्द्ध या उत्तरार्द्ध में एक मात्रा अधिक है, १५ गाथाओं के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दोनों में एक-एक मात्रा अधिक है, ७७ गाथाओं के दोनों अर्द्धालियों में एक-एक मात्रा कम है तथा ३२ गाथाओं के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में से एक में एक मात्रा कम तथा दूसरे में एक मात्रा अधिक है। इन गाथाओं में अन्तिम गण के अन्त लघु को गुरु कर या अन्त गुरु मात्रा को लघु कर छन्द की मात्रा पूरी कर ली गयी है। ऐसी कुल (३८२+१०३+१५+७७+३२) ६०९ गाथाएँ हैं। इस प्रकार (५२१+६०९) ११३० गाथाएं पूर्ण हैं। इनमें अनुष्टुप की २०, गाहू की ६ और उद्गाथा के ७ पद्य जोड़ देने पर ११६३ पद्य मात्रा की दृष्टि से पूर्ण हैं। इनमें गाहू के २ और उद्गाथा के दो पद्य में भी अंतिम लघु का गुरु कर मात्रा पूरी की गयी है। इसके पश्चात् शेष बचे हुए ९८ पद्य के पाठ मात्रा की दृष्टि से अपूर्ण हैं। जिन्हें छन्दों के आधार पर भिन्न-भिन्न हस्तलिखित प्रतियों के पाठ को सामने रखकर पुनर्निर्धारण किया गया है। ये गाथाएँ निम्न प्रकार हैं।

५६ मणिगण १ दीवसिहा२ वि य तुडियंगा३ भिंग४ तह य कोवीणा५।३०मा.
उरुस (?सु) ह ६ आमोय ७ पमोया ८ चित्तरसा ९ कप्परुक्खा १० य ।।२८ मा.

प्रस्तुत गाथा के उत्तरार्द्ध में २७ की जगह २८ मात्राएँ हैं और अन्तिम लघु है जिसे कम नहीं किया जा सकता। यहाँ 'पमोया' शब्द की जगह 'पमोय' कर देने से २७ मात्रा पूर्ण हो जाती है।

६७ मूल-फल-कंद निम्मलनाणाविहइट्ठगंध-रसभोगी ।३०मात्रा
ववगयरोगायंका सुरूव सुरदुंदुभि (भी) थणिया ।।२६मात्रा

प्रस्तुत गाथा के उत्तरार्द्ध के कोष्ठक के पाठान्तर 'भी' को 'भि' की जगह रखने से मात्रा पूर्ण हो जाती है।

७० ओसप्पिणीइमीए तइयाए समाए पच्छिमे भाए ।३२ मा.
पलिओवमट्ठभागे सेसम्मि उ कुलगरुप्पत्ती ।।२७ मा.

यहाँ पूर्वार्द्ध के तइयाए समाए के दोनों ए को विकल्प से लघु मान लेने पर मात्रा पूर्ण हो जाती है।

९२ ओसप्पिणीइमीसे तइयाए समाए पच्छिमे भागे ।३२
चइऊण विमाणाओ उत्तरसाढाहिं नक्खत्ते ।।२८

यहाँ भी पूर्वार्द्ध के तइयाए समाए के ए को लघु तथा उत्तरार्द्ध के विमाणाओ

के ओ को लघु कर देने पर मात्रा पूर्ण होती है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि सानुस्वार इकार तथा हिकार, एवं शुद्ध अथवा व्यञ्जनयुक्त एकार, ओकार संयुक्त रेफ तथा हकार से पूर्व का वर्ण - ये सभी विकल्प से गुरु होते हैं।[५]

१५१ तो तं दसद्धवण्णं पिंडग (?भू) यं छमायले विमले । २८
सोहइ नवसरयम्मि व सुनिम्मलं जोइसं गयणे ।। २७

इसमें 'यं' के पहले के कोष्ठक के 'भू' को जोड़ देने पर अर्थ की स्पष्टता और मात्रा की पूर्णता हो जाती है इसी प्रकार १५२वीं गाथा के पूर्वार्द्ध के मूल 'क' को हटा कर कोष्ठक के 'य' और 'क्कं' को मूल गाथा में लाकर दिसियक्कं कर देने से अर्थ स्पष्ट होने के साथ मात्रा भी पूर्ण होती है। वर्तमान का 'दिसिक' शब्द अर्थ की दृष्टि से अप्रासंगिक है। कोष्ठक का 'मघ' शब्द यहां अप्रासंगिक लगता है। गाथा इस प्रकार है।

१५२ तह कालागरु-कुंदुरुयधूवमघ (मघ) मघेंतदिसि (?य) क (?क्कं)। २६
काउं सुरकण्णाओ चिट्ठंति पगायमाणीओ ।। २७

यह 'गाहू' छन्द के अन्तर्गत आता है।

१५९ तत्तो अलंबुसा१ मिसकेती (सी) २ तह पुंडरि (री) गिणी ३ चेव । २८
वारुणि ४ आसा ५ सव्वा ६ सिरी ७ हिंरी ८ चेव उत्तरओ ।। २७ मा.

यहाँ पूर्वार्द्ध के (री) शब्द को मूल के 'रि' के स्थान पर रखने पर और अंतिम मात्रा को गुरु कर देने से ३० मात्रा हो जायेगी।

२२५ छज्जंति सुरवरिंदा उच्छंगगए जिणे धरेमाणा। ३०
अभिणवजाए कंचणदुमे व्व पवर (?रे) धरेमाणा ।। २६

यहाँ उत्तरार्द्ध में अन्त में गुरु मात्रा होने से 'पवर' शब्द के र के स्थान पर (रे) रखकर मात्रा पूर्ण किया है।

२२९ सव्वोसहि-सिद्धत्थग-हरियालिय-कुसुमगंधचुण्णे य। २९
आणेंति ते पवित्तं दह-नइ-तडमहि (ट्ठि) यं च सुरा । २६

प्रस्तुत गाथा के उत्तरार्द्ध के 'नइ' का वैकल्पिक रूप 'नई' (नदी) रखने पर गाथापूर्ण होती है।

२३१ अभिसिंचइ दस वि जिणे सपरि (री) वारो पहट्ठमुहकमलो। २९
पहयपडुपडह - दुंदुहि - जयसद्दुग्घोसणरवेणं ।। २७।।

प्रस्तुत गाथा के पूर्वार्द्ध में 'सपरिवारो' शब्द के रि की जगह (री) रख देने से पाठ पूर्ण हो जाता है।

२४२ ससुरासुरनिग्घोसो कहकह-उक्कडि (ट्ठि) कलयलसणाहो। २९
सुव्वइ दससु दिसासुं पक्खुहियमहोदहिसरिच्छो।। २७

यहाँ पूर्वार्द्ध में 'उक्कडि' (छिन्न) के बदले प्रसंगानुसार 'उक्कट्ठि (हर्षध्वनि) शब्द उचित है तथा छन्द भी पूरा हो जाता है।

२६१ **सुट्‌ठुयरं जेसिं पुण कुसु (स्सु) इपुण्णा निरंतरं कण्णा। २९**
भावेण भण्णमाणं निसुणंतु सुराऽसुरा सव्वे ।।२७

यहाँ पूर्वार्द्ध में (कुसइ) कुश्रुति का व्याकरणसम्मत प्राकृत रूप नहीं है। 'श्रु' के र का सर्वत्रलवरां अवन्द्रे[६] सूत्र से लोप होने के बाद अनादौशेषादेशौद्वित्वं[७] सूत्र से शेष स (शषो स:[८]) का द्वित्व होकर कुस्सुई होना चाहिए। यहां कोष्ठक का (स्सु) सही है।

२६८ **चुण्णं नाणावण्णं वत्थाणि य बहुविहप्पगाराइं।३०**
मुक्काइं सहरिसेहिं सुरेहिं रयणाणि य बहूणि ।।२८

यहाँ उत्तरार्द्ध के तृतीया बहुवचन के रूप 'सहरिसेहिं सुरेहिं' के 'अनुस्वार रहित रूप' 'सहरिसेहि सुरेहि' कर अन्त लघु को गुरु करके छन्द को पूरा किया गया।

३०८ **हेट्ठिमगेवेज्जाओ संभव, पउमप्पहं उवरिमाओ ।३०**
मज्झिमगेज्जचुयं वंदामि जिणं सुपासरिसिं ।।२५

उपरोक्त गाथा के उत्तरार्द्ध में 'गेज्ज' (मथित) शब्द यहाँ अप्रासंगिक है। यहाँ विमान से च्युत होने का प्रसंग है। 'ग्रैवेयक' का प्राकृत रूप 'गेवेज्ज' होता है। इससे छन्द पूर्ति भी हो जाती है।

३१४ **उसभो य भरहवासे, (?य) बालचंदाणणो य एरवए। २९**
एगसमएण जाया दस वि जिणा विस्सदेवाहिं।।२७

उपरोक्त पूर्वार्द्ध के कोष्ठक के (य) शब्द को मूल गाथा में शामिल कर देने से पादपूर्ति हो जाती है।

३४९ **उसभो य भरहवासे (?य) बालचंदाणणो य एरवए। २९**
अजिओ य भरहवासे, एरवयम्मि य सुचंदजिणो।।२७

उपरोक्त गाथा में कोष्ठक के (य) को मूल में शामिल कर पादपूर्ति कर दिया गया है।

३७३ **चुलसीती १ बावत्तरि २ सट्ठी ३ पन्नास ४ चत्त ५ तीसा ६ य ।२९**
वीसा ७ दस ८ दो ९ एगं १० च हुंति पुव्वाण लक्खाइं ।।२७

इसमें पूर्वार्द्ध के 'सट्ठी' शब्द का प्रतिपाठ सट्ठि त्ति है जिसे मूल में ले आने पर छन्द पूर्ण हो जाता है।

३७४ **चुलसीती११ बावत्तरि१२ (?य) सट्ठि१३ तीस१४ दस१५ पंच१६ तिन्नेव १७।२८**
एगं च सयसहस्सं १८ वासाणं होति विन्नेयं।२६

यहाँ पूर्वार्द्ध में कोष्ठक के (य) शब्द को मूल गाथा में शामिल कर छन्द पूरा

किया गया है।

३८२ **चुलसीती१ बावत्तरि२ (?य) सट्ठि ३ तीस४ दस वासलक्खाइं५ ।२९**
पण्णट्ठि सहस्साइं ६ छप्पन्ना ७ बारसेगं ८-९ च।।२६

इसमें पूर्वार्द्ध में कोष्ठक के (य) को मूल गाथा में शामिल कर पादपूर्ति की गयी है।

४०० **सुमइत्थ निच्चभत्तेणं निग्गओ, वासुपुज्जो जिणो चउत्थेण ।।३५**
पासो मल्ली वि य अट्ठमेण, सेसा उ छट्ठेणं ।।२७

इसमें पूर्वार्द्ध के सभी ओकार और एकार को विकल्प से लघु मात्रा मानी गयी है।

४११ **चंपग२० बउले२१ वेडस२२ धावोडग (?धायइरुक्खे य)२३ सालते२४ चेव ।२६**
नाणुप्पयांय रुक्खे जिणेहिं एए अणुग्गहिया ।।२८।।

इस गाथा में 'धावोडग' के बदले कोष्ठक में उल्लिखित प्रतिपाठ (धायइरुक्खे य) रखने से २९ मात्रा होती है। अन्त के एक लघु को गुरु मानकर छन्द पूरा किया गया है। दूसरे धायवृक्ष के लिए धायइरुक्खे[९] प्राकृत में मिलता भी है। उत्तरार्द्ध के अन्तिम मात्रा को लघु कर २७ मात्रा किया गया है।

४१६ **ए क्कारसि १ एक्कारसि २ पंचमि ३ चाउद्दसी ४ य एक्करसी ५। ३०**
पुन्निम ६ छठ्ठी ७ पंचमि ८ (पंचमि९) तह सत्तमी १० नवमी ११।।२३

यहाँ उत्तरार्द्ध पंक्ति विषय वर्णन की दृष्टि से भी अपूर्ण है। यहाँ कोष्ठक में उपलब्ध (पंचमि९) को मूल गाथा में शामिल कर पादपूर्ति की गयी है।

४२७ **तत्तो य समंतेणं कालागुरु-कुंदुरुक्कमीसेणं।३०**
गंधेण मणहरेणं (?च) धूवघडियं विउव्वेंति ।।२५

यहाँ उत्तरार्द्ध में कोष्ठक के (च) को गाथा में शामिल कर लेने पर तथा अन्तिम मात्रा को गुरु कर पादपूर्ति होती है।

४४३ **जे भवणवई देवा अवरद्दारे तओ (?य) पविसंति ।२८**
तेणं चिय जोइसिया देवा दइयाजणसमग्गा ।।२७

यहाँ पूर्वार्द्ध में कोष्ठक के (य) को शामिल कर तथा अन्तिम मात्रा को 'गुरु' कर ३० मात्रा पूरी की गयी है।

४५१ **एवं नवसु वि खेत्तेसु पुरिम-पच्छिम (ग)-मज्झिमजिणाणं ।२९**
वोच्छं गणहरसंखं जिणाण, नामं च पढमस्स ।।२६

यहाँ पूर्वार्द्ध के कोष्ठक के (य) को पादपूर्ति के लिए शामिल किया गया है।

४५२ **उसभजिणे चुलसीती (य) गणहरा उसभसेणआदीया१।२९**
अजियजिणिंदे नउतिं तु, सीहसेणो भवे आदि२ ।।२७

यहाँ पूर्वार्द्ध के कोष्ठक के (य) को पादपूर्ति के लिए शामिल किया गया है।

५०० **दसकोडि (सय) सहस्साइं अंतरं जस्स उदहिनामाणं ।२९**
तं संभवाओ अभिणंदणं विणीयाए उप्पण्णं ।।२९

इस गाथा के पूर्व और बाद की गाथा में 'सयसहस्साइं' शब्द है। विषय की क्रमबद्धता की दृष्टि से इसमें भी 'सयसहस्साइं' शब्द होना चाहिए। यहाँ (सय) कोष्ठक में है जिसे मूल गाथा में शामिल किया गया तथा दोनों अर्द्धालियों के अन्तिम गुरु को लघु कर छन्द पूरा किया गया। उत्तरार्द्ध के 'ए' की लघुगणना भी की गयी है।

५०३ **पउमाभाओ सुपास वाणारसिउत्तमं समुप्पण्णं ।३१**
तं सागरोवमाणं कोडिसहस्सेहिं नवहिं जिणं।।२९

यहाँ पूर्वार्द्ध में अंतिम गुरु को लघु कर तथा उत्तरार्द्ध में 'सहस्सेहिं नवहिं' शब्द के अनुस्वार को हटाकर मात्रा पूर्ण की गयी है।

५०६ **कोडीहिं नवहिं भद्दिलपुरम्मि सीयलजिणं समुप्पण्णं। ३२**
रयणागरोवमाणं वियाण तं पुप्फदंताओ ।।२७

यहाँ पूर्वार्द्ध के 'कोडीहिं नवहिं' शब्द (तृतीय बहुवचन) के अनुस्वार को विकल्प से हटाकर पाद पूर्ण होता है।

५११ **नवहि वियाणसु नवचंपगप्पभं सागरोवम (?सागरा) समुप्पण्णं। ३२**
तमणंतमउज्झाए विमलाओ गतिगयं विमलं ।।२७

यहाँ 'सागरोवम' के ओकार को लघु तथा अन्त गुरु को लघु कर देने से पादपूर्ति हो गयी है।

५२० **तेसीयसहस्सेहिं सएहिं अद्धट्ठमेहिं वरिसेहिं ।३२**
नेमीओ समुप्पण्णं वाराणसिसंभवं पासं ।।२८

यहाँ पूर्वार्द्ध के 'सएहिं' के ए को लघु कर तथा दोनों अर्द्धालियों के अन्तिम गुरु को लघु कर मात्रा पूरी की गयी है।

५२१ **वाससएहिं वियाणह अड्ढाइज्जेहिं नाइकुलकेउं। ३२**
पासाओ समुप्पण्णं कुंडपुरम्मी महावीरं।। २८

यहाँ पूर्वार्द्ध में तृतीया के रूप क्रमशः 'सएहिं' और अड्ढाइज्जेहिं के अनुस्वार को विकल्प से हटाकर तथा उत्तरार्द्ध के अन्त गुरु को लघु कर छन्द पूर्ण किया गया है।

५२७ **उसभो य भरहवासे, बालचंदाणणो य एरवए। २९**
दस वि य उत्तरसाढाहिं पूव्वसूरम्मि सिद्धिगया।।२८

यहाँ पूर्वार्द्ध में सभी मात्रा पूर्ण होने के बावजूद २९ मात्रा है। उत्तरार्द्ध में पूव्व

गलत प्रयोग है यहाँ 'पुव्व' होकर २७ मात्रा हो जाती है।

५७९ **पुत्तो पयावतिस्सा मियावईकुच्छिसंभवो भयवं। ३०**
नामेण (?नामा) तिविट्ठविण्हू आदी आसी दसाराणं ।। २८

यहाँ उत्तरार्द्ध के 'तिविट्ठविण्हू' शब्द की जगह प्रसंग से संबद्ध और ग्रन्थ के पादटिप्पण में दिये गये पाठान्तर 'तिविहदुविहू' शब्द उचित है। इससे पादपूर्ति भी हो जाती है।

५९१ **अचलस्स वि अमरपरिग्गहाइं एयाइं पवररयणाइं। ३२**
सत्तूणं अजियाइं समरगुणपहाणगेयाइं ।। २७

यहाँ पूर्वार्द्ध के 'एयाइं' के ए को तथा अन्तिम मात्रा को लघु मानकर मात्रा पूर्ण किया गया है।

६३२ **चोरा रायकुलभयं, गंध-रसा जिज्झिहिंति अणुसमयं । ३०**
दुब्भिक्खमणावुट्ठी य नाम प (?ब) लियं पवज्जि (?ज्जी) ही (?) ।। २६

यहाँ उत्तरार्द्ध में 'पवज्जिही' शब्द के 'ज्जि' के वैकल्पिक कोष्ठक के 'ज्जी' को रखने पर पाद पूर्ण हो जाता है।

६७० **आलोइयनिस्सल्ला समणीओ पच्चक्खाइऊण उज्जुत्ता ।। ३४**
उच्छिप्पिहिंति धणियं गंगाए अग्गवेगेणं ।। २७

यहाँ पूर्वार्द्ध में ओकार को लघु मानकर तथा 'पच्चक्खाइऊण' की जगह पच्चक्खाणेसु कर तथा अन्त गुरु को लघु मानकर पादपूर्ति की गयी है।

६८२ **पाडिवतो नामेणं अणगारो ते य सुविहिया समणा । ३०**
दुक्खपरिमोयणट्ठा छट्ठऽट्ठमत (वे) वि काहिंति ।। २५

यहाँ उत्तरार्द्ध में कोष्ठक के (वे) को गाथा में शामिल करने से भाव के बिना परिवर्तन हुए छन्द पूर्ण हो जाता है।

६८३ **रोसेण मिसिमि (संतो) सो कइवाहं तहेव अच्छी य । २५**
अह नगरदेवयाओ अप्पणिया वित्तिवेसिया (बेंति 'हे राय!) ।। २६

यहाँ पूर्वार्द्ध के कोष्ठक के (संतो) शब्द को 'मिसिमि' के साथ जोड़ देने और उत्तरार्द्ध के कोष्ठक के (बेंति 'हे राय!) वाक्यांश को 'वित्तिवेसिया' के स्थान पर रखने से अंत लघु को गुरु कर छन्द को पूरा करने के साथ गाथा का अर्थ भी प्रसंगानुसार सुसंगत हो जाता है।

६८८ **सो दाहिणलोगपती धम्माणुमती अहम्मदुट्ठमती। ३०**
जिणवयणपडि (डी) कुट्ठं नासेहिति खिप्पमेव तयं ।। २६

यहाँ उत्तरार्द्ध में 'पडि' के स्थान पर कोष्ठक का (डी) शब्द रखकर 'पडीकुट्ठं' बना देने से छन्द पूरा हो जाता है।

७१७ केहि वि विराहणाभीरुएहिं अइभीरुएहिं कम्माणं ।३२
समणेहिं संकिलिट्ठं पच्चक्खायाइं भत्ताइं ।।२९

यहाँ पूर्वार्द्ध में 'ए' को लघु मात्रा मानकर तथा उत्तरार्द्ध में तृतीयारूप समणेहिं के एकार को और अन्त गुरु को लघु मानकर छन्द पूरा हुआ।

७२८ सो भणति एव भणिए असि (?लि) ट्ठकिलिट्ठएण वयणेणं ।२९
''न हु ता अहं समत्थो इण्हिं भे वायणं दाउं।२७

यहाँ पूर्वार्द्ध के कोष्ठक के (लि) को गाथा में शामिल किया गया है।

७३३ बारसविहसंभोगे (य) वज्जए तो तयं समणसंघो ।२९
'जं ने जाइज्जंतो न वि इच्छसि वायणं दाउं' ।।२६

यहाँ (य) को पादपूर्ति रूप में रखा गया है।

७३६ पारियकाउस्सग्गो भत्तट्ठितो (ट्ठितओ) व अहव सज्झाए ।२९
निंतो व अइंतो वा एवं भे वायणं दाहं''।२७

यहाँ 'ट्ठितो' की जगह कोष्ठक के (ट्ठितओ) रखकर भत्तट्ठितओ रूप रखने से मात्रा पूर्ण हुई।

७४१ उज्जुत्ता मेहावी सद्धाए वायणं अलभमाणा ।३०
अह ते थोवथो (त्थो) वा सव्वे समणा विनिस्सरिया ।।२६।।

यहाँ थोवथो की जगह थोवत्थो करने से छन्द पूर्ण हुआ।

७४४ सुंदरअट्ठपयाइं अट्ठहिं वासेहिं अट्ठमं पुव्वं।३२
भिंदति अभिण्णहियतो आमेलेउं अह पवत्तो।।२७

यहाँ तृतीया रूप अट्ठहिं वासेहिं को अनुस्वाररहित रूप बना दिए जाने से छन्द पूरा हो गया।

७४८ एकं ता भे पुच्छं केत्तियमेत्तं मि सिक्खितो होज्जा?।३१
केत्तियमेत्तं च गयं? अट्ठहिं वासेहिं किं लद्धं?' ।।२९

यहाँ भी तृतीया रूप अट्ठहिं वासेहि को अनुस्वार रहित रूप करने से छन्द पूर्ण होता है।

७५० सो भणति एव भणिए 'भीतो न वि ता अहं समत्थो मि ।२९
अप्पं च महं आउं बहू (य) सुयमंदरो सेसो' ।।२६।

यहाँ उत्तरार्द्ध के कोष्ठक युक्त (य) को गाथा में शामिल कर 'बहूय' रूप बनाने से छन्द पूर्ण होता है।

७६१ 'नत्थेत्थ कोइ सीहो, सो चेव य एस भाउओ तुब्भं।३०
इड्ढीपत्तो जातो (तो) सुयइड्ढिं पयंसेइ' ।।२४

यहाँ उत्तरार्द्ध में कोष्ठक के (तो) को गाथा में शामिल कर अन्त लघु को गुरु

करने से छन्द पूर्ण हुआ।

७६४ **दुपु (? उग्घु) ट्ठमहुरकंठं सो परियट्टेइ ताव पाढमयं ।२९**
भणियं च नाहिं 'भाउग! सीहं दट्ठूण ते भीया' ।।२८
यहाँ पूर्वार्द्ध में दुपुट्ठ की जगह उग्घुट्ठ करने से छन्द पूर्ण हो जाता है।

७७१ **एतेहि नासियव्वं सए वि णाए वि जह (?) सासणे भणियं।३२**
जं पुण मे अवरद्धं एयं पुण डहति सव्वंगं ।।२७
यहाँ पूर्वार्द्ध के द्वितीय चरण में दोनों एकार को लघु कर छन्द पूरा किया गया है।

७८५ **अह भणइ थूलभद्दो गणियापरिमलसमप्पियसरीरो ।३०**
'सामी ! कयसामत्थो पुणो (वि) भे विण्णवेसामि' ।।२५।।
यहाँ (वि) को पादपूर्ति रूप में शामिल किया गया है।

८०७ **एयस्स पुव्वसुयसायरस्स उदहि व्व अपरिमेयस्स ।२९**
मुणसु जह अथ (?इत्थ) काले परिहाणी दीसते पच्छा ।।२६
यहाँ 'अथ' के स्थान पर 'इत्थ' शब्द रखने पर अर्थ और मात्रा दोनों पूर्ण हो जाती है।

८१४ **समवायववच्छेदो तेरसहिं सतेहिं होहि वासाणं ।३२**
माढरगोत्तस्स इहं संभूतजतिस्स मरणम्मि ।।२६
यहाँ तृतीया बहुवचन रूप तेरसहिं सतेहिं को अनुस्वार रहित रूप कर देने से मात्रा पूर्ण हो जाती है।

८२४ **चंकमिउं वरतरं (?तरयं) तिमिसगुहाए व मंधकाराए ।२९**
न य तइया समणाणं आयारसुते पणट्ठम्मि ।।२६
यहाँ पूर्वार्द्ध में 'वरतरं' को 'वरतरयं' करने पर मात्रा पूर्ण हुई है।

८२६ **वीसाए सहस्सेहिं पंचहिं य सतेहिं होइ वरिसाणं ।३३**
पूसे वच्छसगोत्ते वोच्छेदो उत्तरज्झाए ।।२७
यहाँ तृतीय बहुवचन के रूपों 'सहस्सेहिं, पंचहिं, सतेहिं को अनुस्वार रहित करने से मात्रा पूर्ण हुई है।

८२७ **वीसाए सहस्सेहिं वरिससहस्सेहिं (? वरिसाण सएहिं)नवहिं वोच्छेदो ।३३**
दसवेतालियसुत्तस्स दिण्णसाहुम्मि बोधव्वो ।।२७
यहाँ 'वरिस सहस्सेहिं' शब्द अर्थहीन है। उसकी जगह वरिसाण सएहिं विषय

क्रम संगत है। इसमें तृतीय बहुवचन के रूपों सहस्सेहिं, सएहिं और नवहिं को अनुस्वार रहित रूप में कर देने से छन्द पूर्ण होता है।

८३६ **धम्मो य जिणाणुमतो राया य जणस्स लोयमज्जाया। ३०**
ण (तो) ते हवंति खीणा जं सेसं तं निसामेह ।। २५

यहाँ उत्तरार्द्ध में (तो) को गाथा में शामिल करने से अर्थ पूर्ण होने के साथ छन्द भी पूर्ण हो जाता है।

८३७ **सावगमिहुणं समणो समणी राया तहा अमच्चो य । २९**
एते हवंति सेसं अण्णो (य) जणो बहुतरातो ।। २६

यहाँ उत्तरार्द्ध में (य) पादपूरण में रखा गया है।

८४६ **छट्ठ चउत्थं च तया होही उक्कोसयं तव्वोकम्मं। ३१**
(? दुप्पसहो आयरिओ) काही किर अट्ठमं भत्तं।। १५

यहाँ उत्तरार्द्ध में प्रथम चरण ही नहीं है। जिसकी जगह वहीं कोष्ठक के (दुप्पसहो आयरियो) को चरण मान लिया गया है।

८८१ **गामा (य) नगरभूया, नगराणि य देवलोगसरिसाणि । २८**
रायसमा य कुडुंबी, वेसमणसमा य रायाणो।। २७

यहाँ प्रथम चरण में (य) को गाथा में शामिल कर लेने पर अर्थ और छन्द दोनों पूर्ण हो जाता है।

८८५ **भंग-त्तासविरहितो डमरुल्लोल-भय-डंडरहितो य। २९**
दुब्भिक्ख-ईति-तक्कर-करभर(य) विवज्जिओ लोगो।। २६

यहाँ चतुर्थ चरण में (य) को शामिल कर पाद पूर्ण किया गया है।

९०९ **सीसा वि न पूइंती आयरिए दूसमाणुभावेणं। ३०**
आयरिया (उ) सुमणसा न देंति उवदेसरयणाइं।। २६

यहाँ तृतीय चरण में (उ) पाद पूरण अर्थ में ग्रहण किया गया है।

९१२ **सयणे निच्चविरुद्धो निसोहियसाहिवासमित्तेहिं (?)। २९**
चंडो दुराणुयत्तो लज्जारहितो जणो जातो ।। २७

यहाँ पूर्वार्द्ध के द्वितीय चरण के अन्त में 'य' जोड़कर पादपूर्ति की जा सकती है।

९१४ **सहपंसुकीलिय (?र) सा अणवरयं गरुयनेहपडिबद्धा। २९**
मित्ता दरहसिएहिं लुब्भंति वयंसभज्जासु ।। २६

यहाँ प्रथम चरण में केवल 'सा' शब्द अर्थहीन है। 'रसा' कर देने पर

अर्थसंगति के साथ छन्द पूर्ति हो गयी है।

९२६ **तिहिं वासेहिं गतेहिं गएहिं मासेहि अद्धनवमेहिं। ३३**
एवं परिहायंते दूसमकालो इमो जातो ।। २७

यहाँ पूर्वार्द्ध के प्रथम चरण के दोनों एकार को लघु तथा द्वितीय चरण के अन्त गुरु को लघु कर छन्द को पूरा किया गया है।

९२८ **होही हाहाभूतो (य) दुक्खभूतो य पावभूतो य। २८**
कालो अमाइपुत्तो गोधम्मसमो जणो पच्छा ।। २७

यहाँ द्वितीय चरण के प्रारम्भ में (य) को पादपूर्ति के लिए रखकर अन्त लघु को गुरु किया गया है।

९३६ **होही सुसिरा भूमी पडंतइंगालमुम्मुरसरिच्छा । ३०**
अग्गी हरियतणाणि य नवरं सो तीहि सोविही (?)। २६

यहाँ चतुर्थ चरण में तृतीया बहुवचन रूप 'तीहिं' को अनुस्वार युक्त कर छन्द पूर्ण किया जा सकता है।

९४९ **भ(?भे) सुंडियरूवगुणा सव्वे तव-नियम-सोयपरिहीणा। २९**
उक्कोसरयणिमित्ता मेत्तीरहिया य होहिंति ।। २६

यहाँ प्रथम चरण में 'भसुंडिय' की जगह भेसुंडिय करने से अर्थ और छन्द दोनों संगत हो जाते हैं।

९५१ **इंगालमुम्मुरसमा (य) छारभूया भविस्सती धरणी । २९**
तत्त कवल्लुगभूता तत्तायसजोइभूया य ।। २६

यहाँ द्वितीय चरण के प्रारम्भ में (य) पादपूरण अर्थ में शामिल किया जा सकता है।

९५२ **धूली-रेणूबहुला घणचिक्कणकद्दमाउला धरणी। ३०**
चंकम (म्म) णे य असहा सव्वेसिं मणुयजातीणं ।। २६

यहाँ तृतीय चरण में 'चंकमणे' की जगह (म्म) जोड़कर चंकम्मणे करने से छन्द पूरा हुआ है।

९५५ **नट्ठग्गिहोमसक्कर (?य) भोइणो सूरपक्कमंसासी। २९**
अणुगंगसिंधु-पव्वयबिलवासी कूरकम्मा य।। २६

यहाँ (य) पादपूरण अर्थ में शामिल किया गया है।

९६७ ....

..............................मेत्तीरहिया उ होहिंति ॥१४

यहाँ सभी प्रतियों में तीन चरण अनुपलब्ध है।

९७२ **सेसं तु बीयमेत्तं होही सव्वेसि जीवजातीणं।** ३०

कुणिमाहारा सव्वे निसा (स्सा) ए संझकालस्स । २५

यहाँ (स्सा) को सा के स्थान पर रखकर तथा अन्त लघु को गुरु कर छन्द पूरा किया जा सकता है।

९७७ **ओसप्पिणीइमाए जो होही (? होहऽइ) दुस्समाए, अणुभावो।** ३१

सो चेव (य) अणुभावो उस्सप्पिणिपट्ठवणगम्मि ।। २६

प्रस्तुत गाथा के तृतीय चरण में (य) पादपूरण के लिए शामिल कर अन्त लघु को गुरु किया गया है।

९८० **अवसप्पिणीए अद्धं अद्धं उस्सप्पिणीए तहिं (?ह) होइ।** ३२

एयम्मि गते काले होहिंति उ पंच मेहा उ।। २६

यहाँ पूर्वार्द्ध के दोनों चरणों के ए को लघु किया गया।

१००० **सणसत्तरसं धण्णं फलाइं मूलाइं सव्वरुक्खाणं ।** ३२

खज्जूर-दक्ख-दाडिम-फणसा तउसा य वड्ढंति।। २६

यहाँ फलाइं मूलाइं को अनुस्वार रहित रूप करने से मात्रा पूर्ण होती है।

१००५ **पढमेत्थ विमलवाहन१ सुदाम२ संगम ३ सुपासनामे ४ य ।** २९

दत्ते५ सुनहे६ तसमं (?वसुमं)७ इय (ते) सत्तेव निद्दिट्ठा।। २५

प्रस्तुत गाथा के उत्तरार्द्ध में (ते) जोड़कर मात्रा पूर्ण की जा सकती है।

१००६ **उस्सप्पिणीइमीसे बितियाए समाए गंग-सिंधूणं।** ३२

एत्थबहुमज्झदेसे उप्पण्णा कुलागरा सत्त।। २६

यहाँ द्वितीय चरण के दोनों 'ए' की गणना लघु करने पर छन्द पूर्ण होता है।

१०४५ **गामा (य) नगरभूया नगराणि य देवलोगसरिसाणि।** २८

रायसमा य कुडुंबी, वेसमणसमा य रायाणो ।। २७

यहाँ प्रथम चरण का (य) पादपूर्ति के रूप में लेकर अन्त लघु को दीर्घ किया जाना चाहिए।

१०५७. **सो देवपरिग्गहिओ तीसं वासाइं वसति गिहवासे।** ३१

अम्मा-पितीहिं भगवं देवत्ति (?त्त) गतेहिं पव्वइतो ।। २९

यहाँ उत्तरार्द्ध पितीहिं को अनुस्वार रहित और अन्त गुरु को लघु किया गया।

१०६८ **मणपरिणामो य कतो अभिणिक्खमणम्मि जिणवरिंदेणं। ३०**
देवेहि य देवीहि य समंतओ उव (?ग) यं गयणं ।। २६

यहाँ उत्तरार्द्ध में (ग) जोड़कर 'उवगयं' बना देने से अर्थ और छन्द पूर्ण हो जाते हैं।

१०८४ **एवं सदेवमणुयासुराए परिसाए परिवुडो भयवं । ३२**
अभिथुव्वंतो गिराहिं मज्झंमज्झेण सतवारं ।। २८

यहाँ द्वितीय चरण के 'ए' और 'डो' को लघु मात्रा माना गया है।

१०८६ **ईसाणाए दिसाए ओइण्णो उत्तमाओ सीयाओ। ३२**
सयमेव कुणइ लोयं सक्को से पडिच्छई केसे ।। २८

यहाँ प्रथम चरण के अंतिम 'ए' और द्वितीय चरण के अंतिम गुरु को लघु मान कर छन्द पूरा किया जा सकता है।

१०९० **तिहिं नाणेहिं समग्गा तित्थयरा जाव होंति गिहवासे। ३२**
पडिवण्णम्मि चरित्ते चउनाणी जाव छउमत्था।। २७

प्रस्तुत गाथा के प्रथम चरण के तृतीय बहुवचन रूप 'तिहिं नाणेहिं' को अनुस्वार रहित रूप कर देने से छन्द पूरा होता है।

११२८ **भरहे१ य दीहदंते२ य गूढदंते ३ य सुद्धदंते ४ य। २९**
सिरिचंदे५ सिरिभूमी (ती) ६ सिरिसोमे ७ य सत्तमे ।। २४

यहाँ उत्तरार्द्ध १६ वर्णवाला है जबकि पूर्वार्द्ध १९ वर्ण का, जिसमें तीन य पादपूर्ति रूप में ही प्रतीत होता है। इसके पूर्व की ७ गाथाएं अनुष्टुप की हैं।

११४४ **एते (य) नव निह (ही) तो पभूयधण-कणग रयणपडिपुण्णा। २८**
अणुसमयमणुवयंती चक्कीणं सततकालं पि।। २६।।

यहाँ प्रथमार्द्ध में (य) को पादपूरण में तथा 'निह' की जगह 'निही' रखने पर छन्द पूरा हो जाता है

११४८ **कण्हा उ, जयंति (तऽ) जिए१-२ (भद्दे३) सुप्पभ४ सुदंसणे५ चेव। २५**
आणंदे ६ नंदणे ७ पउमे नाम ८ संकरिसणे ९ चेव ।। २८

यहाँ पूर्वार्द्ध में (भद्दे३) शामिल कर तथा उत्तरार्द्ध के चेव के चे की लघु गणना करने से छन्द पूर्ण होता है।

११५३ **तेसीति लक्ख णव उ तिसहस्सा नव सता य पणनउया। २९**
मासा सत्तऽद्धऽट्ठमदिणा य धम्मो चउसमाए।। २७

यहाँ प्रथम चरण के अन्तिम 'उ' को दीर्घ कर दिया गया है।

११६३ आणिगणि१ दीवसिहा२ तुडियंगा३ भिंग४ कोविण५ उदुसुहा६ चेव।।३१
आमोदा७ य पमोदा८ चित्तरसा९ कप्परुक्खा१० य ।।२६

यहाँ द्वितीय चरण के चेव के चे को लघु मानने से मात्रा पूर्ण होती है।

११९५ सोऊण महत्थमिणं निस्संदं मोक्खमग्गसुत्तस्स ।२९
..................यत्ता मिच्छत्तपरम्मुहा होह ।।१८

यहाँ तृतीय चरण अनुपलब्ध है।

१२०१ जं अज्जियं चरित्तं देसूणाए (वि) पुव्वकोडीए ।२९
तं पि कसाइयमित्तो नासेइ नरो मुहुत्तेणं ।२७

प्रस्तुत गाथा में (वि) को पादपूर्ति के रूप में शामिल करने से गाथा पूर्ण हो जाती है।

१२०४ दुग्ग (ग्गे) भवकंतारे भममाणेहि सुइरं पणट्ठेहिं ।२९
दुलभो जिणोवइट्ठो सोगइमग्गो इमो लद्धो।।२७

प्रथम चरण में 'दुग्ग' के स्थान पर 'दुग्गे' करने से मात्रा पूर्ण होती है।

१२११ जा जिणवरदिट्ठाणं भावाणं सद्दहणया सम्मं (?)।२९
अत्तणओ बुद्धीय य सोऊण य बुद्धिमंताणं ।।२७

यहाँ भी पूर्वार्द्ध के तीन य को हटा देने से पद्य अनुष्टुप छन्द का हो जाता है।

यहाँ द्वितीय चरण के अन्त में 'सम्मं' की जगह 'सम्मत्तं' करने से अर्थ स्पष्ट होने के साथ छन्द भी पूर्ण हो जाता है।

१२१८ एत्थ य संका कंखा वितिगिच्छा अन्नदिट्ठियपसंसा।।३०
परतित्थिओवसेवा पंच (उ) हासेंति सम्मत्तं ।।२६

यहाँ उत्तरार्द्ध में उ को शामिल कर मात्रा पूरा किया जा सकता है।

१२१९ संकादिदोसरहितं जिणसासणकुसलयादिगुण(?जुत्तं)।।२६
एयं तं जं भणितं मूलं दुविहस्स धम्मस्स।।२६

यहाँ पूर्वार्द्ध के अन्त में (जुत्तं) शामिल कर लेने से अर्थ और छन्द पूर्ण हो जाता है।

१२२४ णाणाहिंतो चरणं पंचहिं समितीहिं तिहिं गुत्तीहिं ।३३
एयं सीलं भणितं जिणेहिं तेलोक्कदंसीहिं ।।२८

यहाँ द्वितीय चरण में 'समितीहिं' और 'तीहिं' को 'समितिहि' और 'तिहि' कर देने से तथा अन्त गुरु की लघु कर देने से मात्रा पूर्ण हो जाती है और अर्थ भी पूर्ववत बना रहता है।

इस प्रकार उपरोक्त गाथाओं के पाठ का पुनर्निर्धारण करने का प्रयास किया गया है। इन पुनर्निर्धारित गाथाओं में जहाँ अन्त लघु के बाद प्रथमार्द्ध में २९ मात्रा और उत्तरार्द्ध में २६ मात्रा तथा अन्त गुरु के बावजूद प्रथमार्द्ध में ३१ और उत्तरार्द्ध में २८ मात्रा है, उसे सामान्य मानते हुए चर्चा नहीं की गयी है। वहाँ विकल्प से आवश्यकतानुसार अन्त में गुरु को लघु या लघु को गुरु मानना चाहिए।

संदर्भ

१-२. प्रो० सागरमल जैन एवं सुरेश सिसोदिया, संपा० **प्रकीर्णक साहित्यः मनन और मीमांसा**, आगम संस्थान ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक १४; उदयपुर १९९९ई० सन्; पृ०-२३०.

३. **समवायांगसूत्र** - सं० मधुकर मुनि, आगमप्रकाशन समिति, ब्यावर ९८२; समवाय ८४.

४. वही, **समवाय** १४.

५. **प्राकृत पैंगलम** संपा० डा० भोलाशंकर व्यास; प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी, वाराणसी, खण्ड-१, पृ० ६.

६. **सिद्धहेमशब्दानुशासन**, सूत्र ८/२/७९.

७. वही, सूत्र ८/२/८९.

८. वही, सूत्र ८/१/२६०.

९. डॉ० के० आर० चन्द्र, संपा०- **संक्षिप्त प्राकृत-हिन्दी कोश**,- पृ० ४८६.



बीसवीं सदी के धार्मिक आन्दोलन : एक समीक्षा

डॉ० कमलेश कुमार जैन*

मनुष्य एक विचारशील प्राणी है। वह जीवन में घटित होने वाली प्रत्येक समस्या का समाधान सर्वप्रथम स्वत: करना चाहता है, किन्तु जिन समस्याओं का सम्बन्ध व्यक्तिगत न होकर समाज से होता है उन्हें वह समाज के स्तर पर समाधान करने प्रयास करता है। अत: समाज अनेक व्यक्तियों का समूह है, अन्तत: 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना' के अनुसार विचार-वैभिन्य स्वाभाविक है। किन्तु कभी-कभी ऐसा भी होता है कि कुछ लोग अपने-अपने छोटे-मोटे मतभेदों को गौण करके किसी एक महत्त्वपूर्ण बिन्दु पर एक समान चिन्तन करते हैं और तदनुरूप उसका संगठित रूप में समाधान खोजने का प्रयास करते हैं।

किसी विचारधारा से प्रेरित होकर उसे कार्यान्वित करने के लिये एक संगठित समूह-विशेष के लोगों से सभी का सहमत होना आवश्यक नहीं है। अत: उस समूह के विरोध में भी कुछ लोग खड़े हो जाते हैं और आगे चलकर सामान्य रूप से दो समूह बन जाते हैं, जो अपने-अपने पक्ष के समर्थन में विभिन्न प्रकार के तर्क प्रस्तुत कर अपने-अपने पक्ष की सिद्धि करते हैं।

कभी-कभी समाज में अज्ञानता अथवा लोकमूढ़ता के कारण ऐसे रीति-रिवाज प्रारम्भ हो जाते हैं, जो बाद में अप्रिय और कटु परिणाम वाले होने पर भी समाज में प्रचलित होने के कारण व्यवहार में करने पड़ते हैं। ऐसी स्थिति में कोई क्रान्तिकारी व्यक्ति आगे आता है; जिसे हम समाज सुधारक की संज्ञा देते हैं, वह उन रीति-रिवाजों का विरोध करता है। प्रबुद्ध समाज उसका सहयोग करती है और एक जन-आन्दोलन खड़ा हो जाता है, जो शनै: शनै: समाज में अपनी जड़ें जमा लेता है तथा समाज में व्याप्त कुरीतियों से सम्पूर्ण समाज को मुक्त कराने का प्रयास करता है।

समाज और धर्म- ये दो भिन्न-भिन्न इकाइयाँ हैं। समाज का सम्बन्ध जन सामान्य से होता है और धर्म का सम्बन्ध व्यक्ति विशेष से । किन्तु समाज और धर्म का केन्द्र बिन्दु अन्तत: व्यक्ति ही है। अत: ये दोनों पृथक-पृथक होते हुए भी व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के समूह समाज पर आश्रित हैं। अत: समाज की उन्नति के लिये अनेक सामूहिक कार्य करने पड़ते हैं और समाज की उन्नति अथवा उसके हित में किये गये ये सामूहिक कार्य ही सामाजिक आन्दोलन कहलाते हैं तथा धर्म की ऊँचाइयों का

* प्रवक्ता, जैन दर्शन, जैन-बौद्ध दर्शन विभाग, प्राच्य विद्या धर्म विज्ञान संकाय, का० हि० वि० वि०, वाराणसी.

स्पर्श करने के लिये उसे रूढ़िवादिता अथवा लोकमूढ़ताओं अथवा समय-समय पर धर्म के नाम पर या धर्म की आड़ में समागत कुरीतियों/बुराइयों/विकृतियों को हटाने के लिये जो आन्दोलन किये जाते हैं वे धार्मिक आन्दोलन कहलाते हैं।

समाज की अवहेलना करके न तो कोई धार्मिक आन्दोलन सफल हो सकते हैं और न ही धर्म की अवहेलना करके कोई सामाजिक आन्दोलन। अत: इतना निश्चित है कि दोनों परस्पर एक दूसरे पर आधारित हैं। कभी-कभी सामाजिक आन्दोलन धर्म की ओर इतने झुके हुये होते हैं कि लोग उन्हें धार्मिक आन्दोलन की ही संज्ञा देने लगते हैं और ऐसी स्थिति में सामाजिक और धार्मिक आन्दोलनों में भेद करना जनसामान्य के लिये मुश्किल हो जाता है।

जैन समाज प्राय: व्यापार से सम्बद्ध है। इस समाज में सामान्यत: चौरासी जातियों का समावेश है, जो जैनधर्म की शीतलछाया को प्राप्तकर उसके प्रमुख सिद्धान्त सम्यग्दर्शन के आठ अंङ्गों में से एक अङ्ग वात्सल्यभाव के कारण एक दूसरे के इतने निकट आ गये हैं कि उनमें प्राय: रोटी-बेटी का व्यवहार होने लगा है।

इतनी अधिक जातियों का जैनधर्म के प्रति विशेष रूप से श्रद्धालु होकर एक मंच पर उपस्थित होना वस्तुत: गौरव की बात है, किन्तु सभी जातियों के अपने-अपने भिन्न-भिन्न रीति-रिवाजों एवं विचारों की विविधता के कारण परस्पर सामन्जस्य स्थापित करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। अत: अपने विचारों को मूर्तरूप देने हेतु कुछ लोगों द्वारा जो प्रयत्न हुए वे जैन समाज में एक आन्दोलन के रूप में परिणत हो गये। ये आन्दोलन कभी समाज के विकास के नाम पर उभरे तो कभी धार्मिक कट्टरता के कारण। कभी-कभी सैद्धान्तिक मान्यताओं से नयदृष्टि की उपेक्षा कर किसी एक ओर झुकाव होने के कारण भी जैन समाज में आन्दोलन हुए हैं, जो विविध पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों, स्वतन्त्र टैक्ट्स, पुस्तकों अथवा व्याख्यानों आदि के माध्यम से प्रसारित हुए हैं।

बीसवीं सदी के प्रमुख आन्दोलनों में हरिजन मन्दिर प्रवेश, दस्सापूजाधिकार, दहेज प्रथा, मृत्यु भोज, शूद्र जल त्याग, विधवा विवाह, विजातीय विवाह, बाल विवाह, बाल दीक्षा, धार्मिक ग्रन्थों/शास्त्रों का मुद्रण, विलायत यात्रा, अंग्रेजी शिक्षा का ग्रहण, जिन-शासन देवी-देवाओं की पूजा, द्रव्यपूजा-भावपूजा, अरिहन्त प्रतिमा का अभिषेक , शाकाहार आन्दोलन आदि प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त निमित्त-उपादान, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्ध पर्याय और अध्यात्मवाद पर खुली चर्चा भी इसी शताब्दी की देन है। नारी शिक्षा जैसा पवित्र आन्दोलन भी इसी क्रम में जुड़ा हुआ है।

उपर्युक्त आन्दोलनों में से जिन आन्दोलनों के साथ पक्ष या विपक्ष में समर्थन या विरोध था उनमें विचारों की विविधता के कारण समाज में जहाँ एक ओर विघटन

हुआ, वहीं दूसरी ओर समान विचारधारा के लोग अपने बैर-विरोध भूलकर एक मंच पर भी बैठे हैं। किन्तु समग्र रूप से विचार करने पर अलगाववाद को ही प्रोत्साहन मिला है और कुछ अवसरवादियों ने धर्म अथवा आन्दोलनों के नाम पर अपनी रोटियाँ सेंकी हैं, जिसे स्वस्थ/ प्रशस्त-परम्परा नहीं कहा जा सकता है।

पूर्वोक्त आन्दोलनों में से कुछ का सम्बन्ध धर्म से ही नहीं, जैनधर्म से जोड़ा गया है। अत: सर्वप्रथम हमें धर्म और तदनन्तर जैनधर्म के कुछ मूल बिन्दुओं को दृष्टि में रखना होगा। जैसे -

धर्म ही प्राणी मात्र को अन्धकार से प्रकाश की ओर, जड़ता से चेतनता की ओर ले जाता है।....... निर्वाण की प्राप्ति भी उसी से होती है।[१]

जैनधर्म के कुछ मूल बिन्दु इस प्रकार हैं-

जैनधर्म मूल रूप से व्यक्तिवादी धर्म है। अत: यह व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को स्वीकार करता है।

इसका मूल लक्ष्य अहिंसा का पालन है।

यह वीतरागोन्मुखी अध्यात्मप्रधान धर्म है।

यह धर्म जातिवाद को स्वीकार नहीं करता है।

यह धर्म एक ही वस्तु में एक समय में परस्पर विरोधी धर्मों को अस्ति-नास्ति रूप में एक साथ स्वीकार करता है।

यह धर्म प्रत्येक वस्तु को अनेकान्तात्मक स्वीकार करता है।

यह धर्म प्रत्येक वस्तु पर स्याद्वाद एवं नय-विवक्षा के आधार पर विचार करता है।

जैनधर्मसम्मत उक्त मूल-बिन्दुओं को पृष्ठभूमि में रखते हुये कुछ प्रमुख आन्दोलनों की चर्चा यहाँ प्रस्तुत है।

हरिजन मन्दिर प्रवेश

जब देश स्वतन्त्र हुआ तो सभी देशवासियों को समानाधिकार दिलाने का उपक्रम प्रारम्भ हुआ। उसी क्रम में हरिजनों को समान धार्मिक अधिकारों को देने की घोषणा हुई और उसे कार्यान्वित कराने के लिये हरिजन मन्दिर प्रवेश बिल पास होने हेतु सरकार के समक्ष आया तो पूज्य आचार्य श्री शान्तिसागर जी महाराज ने बम्बई धारा सभा में उपस्थित उक्त बिल के रद हो जाने तक अन्नाहार का त्याग कर दिया। माँ श्री चन्दाबाई ने भी उक्त बिल को रद कराने के लिये भरसक प्रयास किया। माँ श्री का कहना था कि- हिन्दू धर्म के अन्तर्गत जैनधर्म को कभी नहीं माना जा सकता है। यह सर्वथा स्वतन्त्र है, अतएव हिन्दुओं के लिये बने कानून जैनों पर लागू नहीं होने चाहिये।[२]

पूज्य क्षुल्लक गणेश प्रसाद जी वर्णी महाराज ने हरिजन मन्दिर प्रवेश के पक्ष का समर्थन किया था। अतः कुछ कट्टरपन्थी जैन बन्धुओं ने उनसे पिच्छी-कमण्डलु छीन लेने की भी धमकी दी थी। सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र शास्त्री एवं न्यायाचार्य पं० महेन्द्र कुमार जैन आदि ने उक्त बिल का समर्थन किया था। पं० फूलचन्द्र शास्त्री के अनुसार अन्य वर्ण वाले मनुष्यों के समान शूद्र वर्ण के मनुष्य भी जिन मन्दिर में जाकर दर्शन और पूजन करने के अधिकारी हैं।[३] उनके अनुसार शूद्र मन्दिर में नहीं जा सकते, यह सामाजिक बन्धन है, योग्यता मूलक धार्मिक विधि नहीं।[४] उन्होंने अपने पक्ष के समर्थन में सोमदेवसूरि कृत नीतिवाक्यामृत, आचार्य जिनसेनकृत महापुराण और आचार्य रविषेण कृत पद्मचरित के उद्धरण प्रस्तुत किये हैं, जिनमें कहा गया है कि - जिस शूद्र का आचार निर्दोष है तथा घर, पात्र और शरीर शुद्ध है, वह देव, द्विज और तपस्वियों की भक्ति, पूजा आदि कर सकता है।[५] क्योंकि व्रतों के संस्कार से ब्राह्मण, शास्त्रों को धारण करने से क्षत्रिय, न्यायपूर्वक अर्थ का अर्जन करने से वैश्य और निम्न श्रेणी की आजीविका का आश्रय लेने से शूद्र कहलाते हैं[६]। नामकर्म के उदय से उत्पन्न हुई मनुष्य जाति एक है। उसके ब्राह्मण आदि चार भागों में विभक्त होने का एक मात्र कारण आजीविका है[७]। मेधावी कविकृत धर्मसंग्रह श्रावकाचार के अनुसार दान, पूजन और स्वाध्याय-इन तीन कर्मों को करने का अधिकार शूद्रों को है।[८]

इन सभी शास्त्रीय तर्कों के बावजूद माँश्री चन्दाबाई जी का यह कथन भी मननीय है कि -हरिजन जैन मदिरों को पूज्य नहीं मानते हैं। आज तक कभी भी उन्होंने जैन मन्दिरों में जाकर दर्शन-पूजन नहीं किये हैं और न उनके आराध्यों की मूर्तियाँ जैन मन्दिरों में हैं। अतएव हरिजन मन्दिर प्रवेश बिल जैनों पर लागू नहीं होना चाहिए[९], और हुआ भी यही कि हरिजन मन्दिर प्रवेश बिल से जैन मन्दिर पृथक कर दिये गये।

विधवा-विवाह

जैनधर्म आचार पर विशेष बल देता है। अतः विधवा-विवाह एक सामाजिक समस्या होकर भी धर्म से जुड़ी हुई है। क्योंकि विधवा-विवाह के विरोधी तो इसे धर्म से जोड़ते ही हैं, इसके समर्थक भी इसे धर्म से जोड़कर विधवा-विवाह का समर्थन करते हैं और इसे एक धार्मिक आन्दोलन का रूप देते हैं। वस्तुतः यह आन्दोलन बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव की देन है। विधवा-विवाह के समर्थकों में स्व० सूरजभान जी वकील, दयानन्द जी गोयलीय, पं० दरबारीलाल जी 'सत्यभक्त', पं० परमेष्ठीदास जी जैन एवं ब्र० शीतलप्रसाद जी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

विधवा-विवाह का समर्थन दो प्रकार से किया जाता था। कुछ लोग विधवा-विवाह को जैनधर्म के विरुद्ध मानकर भी समय की जरूरत के नाम से आपद्धर्म के रूप में चलाना चाहते थे[१०]। जबकि पं० दरबारी लाल जी 'सत्यभक्त' जैसे लोगों का विचार था कि -'विधवा-विवाह जैनधर्म का अंग है। विधवा-विवाह के रिवाज के बिना जैनधर्म का ब्रह्मचर्याणुव्रत अधूरा है। ब्रह्मचर्याणुव्रत का मतलब है कि मनुष्य की उद्याम काम-वासना एक पुरुष या एक नारी में सीमित हो जाये। यह कार्य विधवा-विवाह से भी होता है। विधवा को काम-वासना सीमित करने की जरूरत है, जो कि विवाह से ही सम्भव है, इसलिये विधवा-विवाह ब्रह्मचर्याणुव्रत का पूरक है[११]।' इसके समर्थन में आगे उनका कहना है कि- इसी प्रकार कोई पुरुष यदि किसी विधवा के साथ विवाह करके अपनी काम-वासना को सीमित कर लेता है तो उसका यह विवाह भी ब्रह्मचर्याणुव्रत का सहायक बन जाता है। इस प्रकार दोनों के लिये विधवा-विवाह ब्रह्मचर्याणुव्रत का अंग है और ब्रह्मचर्याणुव्रत तो जैनधर्म का मूल व्रत है। इसलिये विधवा-विवाह भी मूलव्रत में सहायक बना[१२]।

ये विचार पं० दरबारी लाल जी 'सत्यभक्त' के अपने हो सकते हैं, किन्तु मात्र तर्क से कोई बात सही नहीं हो जाती है। तर्क के साथ औचित्य और धार्मिक मर्यादाओं का भी ध्यान रखना आवश्यक है। अत: विधवा विवाह को काम-वासना की पूर्ति अथवा अपनी सन्तान के प्रति अतिमोह ही कहा जा सकता है, धार्मिक दृष्टिकोण कदापि नहीं। इसलिये इसके विरोध में बाबू सुमेरचन्द्र जी 'कौशल' आदि अनेक विद्वानों ने अपनी आवाज उठाई और बतलाया कि- विवाह जैसे पवित्र बन्धन को विधवा-विवाह के नाम पर कलङ्कित करना उचित नहीं हैं। उन्होंने अनेक धार्मिक एवं पौराणिक आख्यानों के माध्यम से विधवा-विवाह को अनुचित ठहराया है[१३]।

इस सन्दर्भ में बारह वर्ष की उम्र से वैधव्य जीवन बिताने वाली माँश्री चन्दाबाई जी के निम्न उद्गार भी ध्यातव्य हैं। उनका कहना था कि- पातिव्रत्य ही नारी के लिये अमूल्य निधि है, इसे खोकर भारतीय नारी जीवित नहीं रह सकती है। इन्द्रियजन्य सुख कभी भी तृप्ति का साधन नहीं बन सकता है। जो समाज में विधवा-विवाह का प्रचार करना चाहते हैं, वे धर्म और समाज के शत्रु हैं, जैन संस्कृति से अपरिचित हैं, उन्हें ब्रह्मचर्य की महत्ता मालूम नहीं[१४]। समाज सुधारकों को उनकी सलाह थी कि सुधारकों को समाज सुधार करना है तो उन्हें ऐसी क्रान्ति करनी चाहिये, जिससे विधवाएँ उत्पन्न ही न हों, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, जो कि विधवाओं की संख्या बढ़ा रहे हैं, तुरन्त बन्द होने चाहिए[१५]।

जैन समाज में तब और आज भी जैन संस्कृति की जड़ें मजबूत हैं। अत: पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित लोगों द्वारा विधवा-विवाह के समर्थन में अनेक सामाजिक

और धार्मिक तर्क उपस्थित करने पर भी विधवा-विवाह आन्दोलन सफल नहीं हो सका। हाँ! अपवाद स्वरूप कुछ विधवा-विवाह हुए हैं, किन्तु इन्हें समाज का खुला समर्थन नहीं मिल सका और वे समाज में आदृत भी नहीं हुये। साथ ही विधवा-विवाह आन्दोलन से पूर्व की व्यवस्था के ही ये अंग थे, जिन्हें आन्दोलन के कारण कुछ हवा मिली थी और समाज का रुख कुछ नरम हो गया था तथा सामाजिक कठोर दण्ड से वे बच गये।

विजातीय विवाह:

बीसवीं सदी के तृतीय दशक में दिगम्बर जैन समाज में व्याप्त जाति-बन्धन को तोड़ने और परस्पर में रोटी-बेटी के व्यवहार को स्थापित करने के लिये पं० दरबारीलाल 'सत्यभक्त' ने विजातीय विवाह के समर्थन में एक आन्दोलन चलाया था, जिसके समर्थन में उन्होंने सौ से अधिक लेख लिखे थे। 'विजातीय विवाह मीमांसा' नाम से एक ट्रैक्ट भी दिल्ली के जौहरीमलजी सर्राफ ने छपवाया था।[१६] स्वामी सत्यभक्त जी के अनुसार यह आदोलन पूरी तरह सफल रहा। बहुत से विरोधी पण्डितों के विचार भी बदल गये और व्यवहार में भी यह आन्दोलन काफी सफल हुआ। दक्षिणी मध्यप्रदेश और महाराष्ट्र में दर्जनों की संख्या में जाति-पांति तोड़कर विवाह हुये और कुछ अल्पसंख्यक जातियाँ तो एक तरह से आपस में मिल ही गईं[१७]।

गुणों की पूजा को महत्त्व देने वाले जैनधर्म में वस्तुत: जातिवाद का धार्मिक दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं है। अत: सम्प्रति विभिन्न उपजातियों के लोगों ने धर्म को प्रमुख मानकर परस्पर में रोटी-बेटी का व्यवहार प्रारम्भ कर दिया है, जो सामाजिक एकता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि पिण्डशुद्धि के नाम पर कुछ लोगों द्वारा विजातीय विवाह का निषेध अब भी किया जाता है, किन्तु अब यह विरोध सामान्य श्रावकों में नगण्य है तथा विजातीय विवाह बे-रोकटोक हो रहे हैं।

दस्सा पूजाधिकार

बीसवीं सदी के प्रथम दशक में सन् १९०९ में हस्तिनापुर में मेले के अवसर पर दस्सा पूजाधिकार को लेकर एक आन्दोलन हुआ था, जिससे सरधना और खतौली के दस्सा अग्रवाल जैन प्राचीन दस्तूर और धार्मिक रिवाज के विरुद्ध नई बात अर्थात् जिनेन्द्रमूर्ति का प्रक्षाल-पूजन करना चाहते थे, किन्तु अग्रवाल बिरादरी की आम पंचायत से यह निश्चित हुआ कि प्राचीन दस्तूर और रिवाज के विरुद्ध दस्सा जाति वाले नया दस्तूर नहीं चला सकते, यानी पूजा प्रक्षाल नहीं कर सकते हैं[१८]। पंचायत के इस निणर्य से असन्तुष्ट लोगों ने अपने पूजा के अधिकार को प्राप्त करने हेतु न्यायालय की शरण ली।

दस्सा पूजाधिकार का समर्थन पं० गोपालदास जी बरैया, पं० धन्नालाल जी

कासलीवाल एवं पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने किया था तथा बीसा पक्ष की ओर से पं० पन्नालाल जी न्यायदिवाकर और हकीम कल्याणराय जी ने पतित जाति के लिये पूजाधिकार का निषेध किया था[१९]।

गुरु गोपालदास जी बरैया ने दस्सा पूजाधिकार के पक्ष में स्पष्ट रूप से कहा कि दस्सों को भी उसी तरह भगवान् जिनेन्द्र की पूजा करने का अधिकार है जिस तरह बीसा कहलाने वाले लोगों को[२०]। उनकी दलील थी कि - दस्सा कहलाने वाले लोग अपनी पाँचवी अथवा सातवीं पीढ़ी में शुद्ध हो जाते हैं। यदि हजारों या लाखों वर्षों में भी उनकी शुद्धि नहीं माना जाये तो यह आरोप तीर्थंकरों तक पहुंच जायेगा क्योंकि उत्सर्पिणी में जो तीर्थंकर पैदा होते हैं उनकी परम्परा उत्सर्पिणी सभा के प्रथम काल से प्रारम्भ होती है। उत्सर्पिणी सभा के प्रथम काल में सब लोग आचार-भ्रष्ट होते हैं और उनकी ही परम्परा में तीर्थंकरों की उत्पत्ति होती है[२१]। पण्डितजी की इस दलील का विरोधियों के पास कोई उत्तर नहीं था, फिर भी उन्होंने उनके विरुद्ध भोले लोगों को यह कहकर बहकाया कि पण्डित गोपालदास जी तीर्थंकरों को व्यभिचारी की सन्तान बतलाते हैं[२२]। वैसे दस्सा पूजाधिकार के प्रबल विरोधी पं० पन्नालाल जी न्यायदिवाकर ने स्वयं स्वीकार किया है कि मैं दस्सों के पूजाधिकार के खिलाफ नहीं हूँ, किन्तु परम्परा का समर्थन करना पड़ता है और शास्त्रों में भी कहीं भी दस्सा-बीसा का उल्लेख ही नहीं है[२३]।

न्यायालय ने परम्परा को आधार मानकर यद्यपि दस्सा पूजाधिकार के विरोध में अपना निर्णय दिया, किन्तु पण्डित बरैया जी के तर्क शास्त्रानुमोदित होने के कारण आज भी मील के पत्थर साबित होते हैं और वर्तमान में तो गुरु गोपालदास जी के विचारों का ही क्रियान्वयन हो रहा है।

दस्सा पूजाधिकार आन्दोलन पर टिप्पणी करते हुये पण्डित चैनसुख दास जी ने लिखा है कि - 'जो व्यभिचार करता है उसे किसी भी प्रकार का दण्ड नहीं, किन्तु जो व्यभिचार से उत्पन्न होता है उसे दस्सा कहकर यह नृशंस दण्ड दिया जाता है, जिसका कि वस्तुतः कोई अपराध ही नहीं है। यह दण्ड व्यवस्था न तो तर्कसंगत है, न मनोवैज्ञानिक और न आगम सम्मत[२४]।' आदरणीय पण्डितजी के ये विचार बुद्धिजीवियों को एक दिशा निर्देश देते हैं।

वस्तुतः परम्परा मानव-निर्मित होती है अथवा कभी-कभी स्वतः बन जाती है, किन्तु धार्मिक सिद्धान्त देश-कालातीत होते हैं, उनमें रागद्वेष की गन्ध नहीं होती है। अतः वे ही सार्वजनिक और सर्वमान्य हैं।

शूद्रजल त्याग

कभी शूद्रजल के त्याग का आन्दोलन जैन समाज में मुखरित हुआ था।

अनेक पूज्य मुनिजन एवं पूज्या आर्यिकाएँ माता जी श्रावकों को शूद्रजल त्याग करने का उपदेश देते थे तथा आहार उन्हीं के हाथों से ग्रहण करते थे, जो शूद्रजल के त्यागी हों। अब भी कुछ मुनिसंघों में शूद्रजल का त्याग किये बिना श्रावक पूज्य मुनिराजों एवं आर्यिका माताओं को आहार देने की योग्यता नहीं रखते हैं। कभी शूद्रजल का त्याग कराने से जैन समाज को काफी क्षति उठानी पड़ी थी। जात-पांत के आधार से मनुष्य को छोटा समझने का सिद्धान्त न्याय के विरुद्ध तो था ही, जैनधर्म के विरुद्ध भी था तथा इसके कारण कई जगह जैनों का सामाजिक विरोध-बहिष्कार भी हुआ था इसलिये यह आत्म घातक भी था[३५]।

यद्यपि वर्तमान में भी कुछ श्रावक-श्राविकाएँ शूद्रजल के त्यागी हैं, किन्तु आज के महानगरों की सरकारी जल व्यवस्था को देखकर शूद्रजल का त्याग असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। अत: व्यावहारिक कठिनाई और मानव-मानव के मध्य भेद रेखा खींचने वाला यह आन्दोलन स्वत: समाप्त हो रहा है।

धार्मिक ग्रन्थों/शास्त्रों का मुद्रण

बीसवीं सदी के प्रारम्भ में परम्परा के अनुसार हस्तलिखित शास्त्रों को ही गद्दी पर विराजमान कर प्रवचन किया जाता था, किन्तु युग बदला और ग्रन्थों का मुद्रण चालू हो गया। जब धार्मिक ग्रन्थों को मुद्रित कराने की बात उठी तो कुछ लोगों ने उसका विरोध किया। विरोध करने वालों में स्व० सेठ जम्बूप्रसाद जी सहारनपुर वाले प्रमुख थे। उनका मानना था कि शास्त्रों के मुद्रण से जिनवाणी माँ की अवज्ञा होगी। किन्तु देश-काल की बदली हुई परिस्थितियों में शास्त्रों का मुद्रण युगानुकूल होने से यह विरोध दब गया और शास्त्रों के मुद्रण से आज घर-घर में सर्वत्र जिनवाणी माँ के दर्शन होने लगे हैं तथा स्वाध्याय के प्रति लोगों की रुचि जागृत हुई है।

'संजद' पद का समावेश:

षट्खण्डागम के तेरानबेवें सूत्र में 'संजद' पद के समावेश को लेकर एक आन्दोलन चला था, जिसका सूत्रपात सिद्धान्ताचार्य पण्डित फूलचन्द्र शास्त्री ने किया था। इस पर पं० मक्खनलाल जी न्यायालंकार का कहना था कि- यह सूत्र द्रव्य मार्गणा की अपेक्षा लिखा गया है, इसलिये इसमें 'संजद' पद नहीं होना चाहिए, क्योंकि आगम में द्रव्य मनुष्य-स्त्रियों के पांच ही गुणस्थान बतलाये गये हैं। जबकि पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री का कहना था कि -सभी गुणस्थानों और सभी मार्गणाओं में जीवों के भेदों की ही प्ररूपणा आगम में दृष्टिगोचर होती है, इसलिये इस सूत्र में भाववेद की अपेक्षा मनुष्य स्त्रियों के सन्दर्भ में ही गुणस्थानों की प्ररूपणा की गई है। इसलिये इस सूत्र में 'संजद' पद अवश्य होना चाहिये[३६]।

इस विषय पर विस्तार से चर्चा करने के लिये बम्बई में एक त्रिदिवसीय

संगोष्ठी का आयोजन किया गया था, जिसमें कोई अन्तिम निर्णय नहीं हो सका था। किन्तु बाद में पं० मक्खनलाल जी शास्त्री ने आचार्य शान्तिसागर जी महाराज को प्रेरित कर ताड़पत्रीय प्रतियों के आधार पर षट्खण्डागम की जो ताम्रपत्र प्रति तैयार की गई उसके तेरानबेवें सूत्र को 'संजद' पद से रहित ही अंकन कराया।

इसके बाद भी इस विषय पर ऊहापोह चलता रहा और विद्वत्परिषद् की कार्यकारिणी ने 'संजद' पद के समावेश के पक्ष में प्रस्ताव पास कर अपनी सहमति व्यक्त की। अन्त में पूज्य शान्तिसागर जी महाराज ने दोनों पक्षों के प्रमाणों पर गहन विचार कर अपने पूर्व वक्तव्य को वापिस लिया और मराठी में अपने अभिमत को प्रकट करते हुये 'संजद' पद के समावेश की आवश्यकता पर बल दिया था[२७]। आचार्यश्री की इस घोषणा के साथ ही यह आन्दोलन समाप्त हो गया।

नारी शिक्षाः

बीसवीं सदी के प्रारम्भ में जैन समाज में प्रायः शिक्षा का अभाव था। पुरुषवर्ग में जो थोड़े-बहुत पढ़े-लिखे श्रीमन्त अथवा विद्वान् थे, उन्हीं के हाथों में समाज की बागडोर थी। जैन समाज में व्याप्त अशिक्षा ही उनकी गरीबी का मूल कारण था। अतः इस दिशा में पूज्य गणेशप्रसाद जी वर्णी ने बुन्देलखण्ड में अनेक संस्कृत विद्यालयों एवं पाठशालाओं की स्थापना करके जैन समाज में शिक्षा का प्रचार-प्रसार किया। महाराष्ट्र में पूज्य मुनिश्री समन्तभद्र जी महाराज ने अनेक गुरुकुलों की स्थापना करके अविद्या के अन्धकार से जैन एवं जैनेतर समाज को उबारा।

इतना सब होते हुये भी नारी शिक्षा की ओर किसी व्यक्ति का ध्यान नहीं गया। अतः माँश्री चन्दाबाई जी ने आरा (बिहार) में जैन बाला विश्राम और श्री महावीर जी (राज०) में ब्र० कमलाबाई जी ने महिला आश्रम की स्थापना करके नारी शिक्षा पर विशेष बल दिया है। बाल-विधवा बहिनों के घोर निराशामय जीवन में रोशनी फैलाने वाले इन शिक्षा आयतनों ने महिला समाज में एक नई जागृति पैदा की है। इससे दीन-हीन कही जाने वाली अनेक कन्याओं एवं विधवा बहिनों ने अध्ययन का आत्म-सम्मान तो प्राप्त किया ही है, साथ ही देश और समाज की सेवा कर अपने जीवन को सफल बनाया है। अतः नारी शिक्षा का यह आन्दोलन अपने कुछ उद्देश्यों की पूर्ति के कारण आंशिक रूप में सफल कहा जा सकता है।

अन्य विविध आन्दोलन

उपर्युक्त के अतिरिक्त अन्य और भी अनेक आन्दोलन समय-समय पर जैन समाज में हुए हैं, जिनमें सामाजिक दृष्टि से दहेज प्रथा का उन्मूलन महत्त्वपूर्ण है। किन्तु दहेज प्रथा को समाप्त करने के लिये जितने भी सरकारी या सामाजिक नियम बने, वे सभी दहेजलोभियों और दहेजदाताओं की कमजोरी के कारण सफल नहीं हो

सके। फलस्वरूप नारी-नारी की शत्रु बनी और दहेज न लाने के कारण गृहलक्ष्मी उत्पीड़ित हुई और हो रही है। अतः इस सामाजिक बुराई को दूर करने के लिये यदि हमारी माताएँ-बहिनें एक जुट होकर मुकाबला करें तो यह राक्षसी प्रथा समाप्त हो सकती है।

बाल विवाह और बाल दीक्षा कुछ अपवादों को छोड़कर प्रायः समाप्त है। मृत्यु भोज के प्रति सामाजिक बन्धन नहीं रहा। विलायत (विदेश) यात्रा का निषेध और अंग्रेजी शिक्षा के ग्रहण से जैन संस्कृति के नष्ट होने की बातें बहुत पहले ही समाप्त हो चुकी हैं। जिन शासन देवी-देवताओं की पूजा और द्रव्यपूजा एवं भावपूजा तेरापंथ और बीसपंथ के पुराने मुद्दे हैं। निमित्त-उपादान, निश्चय-व्यवहार और क्रमबद्ध पर्याय आदि पर पुनश्चर्चा कानजी स्वामी की देन है, जिसे प्रायः सभी जानते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बीसवीं सदी के प्रारम्भ से ही जैन समाज में आन्दोलनों की बाढ़ रही है। ये आन्दोलन जैन समाज की जागरूकता के प्रतीक हैं। अन्यथा इनके चलाने में जो श्रम और आर्थिक क्षति होती है वह सर्व साधारण के लिये सम्भव नहीं है।

ये आन्दोलन जैन समाज को निरन्तर जागरूक बनाये रखें तथा धार्मिक और नीतिपरक दृष्टिकोण को अपनाते हुये अज्ञानता अथवा लोकरूढ़ि के कारण समाज में व्याप्त कुरीतियों को दूर कर समाज और देश का कल्याण करें, यही मंगल भावना है।

सन्दर्भ

१. पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, **वर्ण, जाति और धर्म**, पृष्ठ १८.

२. **ब्र० पं० चन्दाबाईअभिनन्दनग्रन्थ**, पृष्ठ १८-१९.

३. **वर्ण, जाति और धर्म**, पृष्ठ २५८.

४. **वही**, पृष्ठ २५९.

५. आचारानवद्यत्वं शुचिरूपस्करः शारीरी च विशुद्धिः करोति शुद्रमपि देवद्विज तपस्विपरिकर्मसु योग्यम्
नीतिवाक्यामृत, उद्धृत **वर्ण, जाति और धर्म**, पृष्ठ २६४-२६५.

६. ब्राह्मणा व्रतसंस्कारात् क्षत्रिया: शस्त्रधारणात् ।
वणिजोऽर्थार्जनान्न्यायात् शूद्रा न्यग्वृत्तिसंश्रयात् ।।
महापुराण, ३८/४६ उद्धृत **वर्ण, जाति और धर्म**, पृष्ठ ३७३.

७. मनुष्यजातिरेकैव जातिनामोदयोदभवा ।
वृत्तिभेदाहिताद भेदाच्चातुर्विध्यामिहाश्नुते ।।

- महापुराण ३८/४५ **उद्धृत,वही**, वर्ण, जाति और धर्म, पृष्ठ ३७३.

८. **ब्र० पं० चन्दाबाईअभिनन्दनग्रन्थ**, पृष्ठ १९.

९. स्वामी सत्यभक्त,'जैन समाज के आन्दोलन', **'बाबू छोटेलाल जैन स्मृतिग्रन्थ'**, पृष्ठ १०४.

१०.१२. वही, पृष्ठ १०४,

१३. **द्रष्टव्य, विधवा विवाह विचार** (टैक्ट)
लेखक- बाबू सुमेरचन्द्र जी 'कौशल' बी. ए, प्रकाशक, श्री दि० जैन स्याद्वाद प्रचारिणी सभा, नं० १ वैशाख लेन, बड़ा बाजार, कलकत्ता.

१४-१५. **ब्र० पं० चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ**, पृष्ठ, १८.

१६. द्रष्टव्य, **बाबू छोटेलाल जैन स्मृतिग्रन्थ**, पृष्ठ १०२.

१७. वही, पृष्ठ १०३.

१८. द्रष्टव्य, **गुरु गोपालदास बैरया स्मृतिग्रन्थ**, पृष्ठ ९.

१९. वही, पृष्ठ ९.

२०. पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ, 'दस्सा पूजाधिकार के सम्बन्ध में गुरुजी के विचार', **गुरु गोपालदास बरैया स्मृतिग्रन्थ**, पृष्ठ १७७.

२१-२२. वही, पृष्ठ १७७.

२३-२४. वही, पृष्ठ १७८.

२५. जैन समाज के आन्दोलन (स्वामी सत्यभक्त), **बाबू छोटेलाल जैन स्मृतिग्रन्थ**, पृ० १०३.

२६. द्रष्टव्य, **सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र शास्त्री अभिनन्दनग्रन्थ**, पृ० ४८४.

२७. वही, पृं० ४८३-४८६.

*

जैन विद्या के विकास के हेतु रचनात्मक कार्यक्रम

श्री दुलीचन्द जैन*

जैन विद्या के प्रचार की आवश्यकता

आज जैन विद्या के प्रचार की आवश्यकता प्रत्येक व्यक्ति महसूस कर रहा है। वस्तुतः प्रचार प्रसार में हम लोग बहुत पिछड़े हुए हैं। विश्व में ईसाई, इस्लाम, वैदिक और बौद्ध आदि धर्मों का व्यापक प्रचार हुआ है। हजारों लोग उनके प्रचार-प्रसार में लगे हुए हैं तथा अरबों रूपये व्यय हो रहे हैं। जैन धर्म का प्रचार प्रसार हमने साधु-साध्वियों पर छोड़ दिया है। ये साधु संत जैन जीवन पद्धति के साकार रूप हैं, देश भर में छोटे-छोटे ग्रामों से लेकर बड़े नगरों तक- ये धर्म का प्रचार कर रहे हैं। लेकिन इनकी अपनी मर्यादाएं हैं, ये अपनी आत्म-साधना में निमग्न रहते हैं, किसी भी प्रकार के वाहन का उपयोग नहीं करते तथा देश के बाहर भ्रमण नहीं करते।

जैन गृहस्थों ने पूर्वकाल में धर्म का व्यापक प्रचार किया था। जैन धर्म उस समय जनधर्म बना था। विदेशों में भी इसका व्यापक प्रचार हुआ था। श्रीलंका, वर्मा, जावा, सुमात्रा, हिंदचीन, जापान, चीन तथा मध्य एशिया में ईरान, ईराक इत्यादि में जैन धर्म फैला था। जैन श्रावकों द्वारा बड़ी-बड़ी नौकाओं व जहाजों द्वारा विदेशों में भ्रमण की अनेक गाथाएं हमारे पुराणों में मिलती हैं। वे लोग विदेशों में भी धर्म की चर्या का पालन करते थे तथा धनोपार्जन के साथ-साथ धर्म का भी प्रचार करते थे। लेकिन हमारा आधुनिक जैन समाज मात्र अर्थ और काम की उपासना में लगा हुआ है, धर्म के प्रचारक बहुत कम हैं। महाकवि भृर्तहरि की यह सूक्ति वर्तमान जैन समाज पर पूर्णतया सही लागू होती है।

"यक्याक्ति वित्तं स नरः कुलीनः
स पण्डितः स श्रुतवान गुणज्ञः।
स च वक्ता, स च दर्शनीयः,
सर्वे गुणा कांचनमाश्रयन्ति ।।"

अर्थात् जिसके पास धन है, वही इस संसार में उत्तम कुल वाला है, वही विद्वान् है, वही ज्ञानवान है, वही श्रेष्ठ वक्ता है और वही दर्शनीय है। संक्षेप में जिसके पास धन है, वही सब गुणों का आगार है।

श्रेष्ठी एवं महाजन

लेकिन यह हमारी प्राचीन जैन परंपरा के विपरीत है। हमारे श्रावक-

*मंत्री, जैन विद्या अनुसन्धान प्रतिष्ठान, चेन्नई.

श्राविकाओं ने धर्म को सही ढंग से समझा, व्रती जीवन जीया तथा दान, शील, तप और भावनारूपी धर्म उनके जीवन में मूर्त्त हुआ। तब जैन श्रावकों को "महाजन" "श्रेष्ठी" और "साहूकार" कहा जाता था। आचार्य हरिभद्र सूरि ने "धर्मबिन्दु" नामक अपने ग्रन्थ में गृहस्थों के लिए त्रिवर्ग की उपासना का विधान बताया है। त्रिवर्ग का अर्थ है धर्म, अर्थ और काम। "धर्म और काम को भले ही अन्य कोई परस्पर विरोधी मानते हों, किन्तु जिन वाणी के अनुसार यदि वे मर्यादापूर्वक व्यवहार में लाये जाते हैं, तो परस्पर अविरोधी हैं" (दश० निर्युक्ति २६२)

धर्म का असली स्वरूप

आज जैन धर्म के असली स्वरूप को बहुत कम लोग समझते हैं। जीवन को हम किस प्रकार आनन्दपूर्वक, तनावरहित व सौहार्दपूर्ण ढंग से जियें, यह जैन धर्म बतलाता है। लोग इसे निवृत्तिमूलक धर्म मानते हैं पर इसमें निवृत्ति और प्रवृत्ति का समन्वय है। भगवान् महावीर ने कहा कि प्रत्येक प्राणी में आत्मा है अतः उसके प्रति सम्मान की भावना रखनी चाहिए। जीव मात्र के प्रति आदर यह जैन धर्म का प्रथम सिद्धांत है। दूसरा सिद्धांत है सभी व्यक्तियों के प्रति समभाव रखना, किसी को ऊंचा या नीचा नहीं समझना। तीसरा सिद्धांत है कि हमारे विचारों में आग्रह की वृत्ति न हो। आचार में अहिंसा और विचारों में अनेकांत एक समता और सौहार्दमूलक समाज रचना में सहायक होते हैं। जैनशब्द का अर्थ ही जीतना है। जो अपने आपको जीतता है, अपनी आत्मा को जीतता है, कषायों पर विजय प्राप्त करता है, वही जैन कहलाने का अधिकारी है। आज विश्व में चारों ओर हिंसा और अशान्ति चरम सीमा पर पहुंच गई है। अमेरिका जैसे अति समृद्ध देश में हर ३० मिनट में एक व्यक्ति आत्महत्या कर लेता है तथा हर २० मिनट में एक व्यक्ति पागल हो जाता है। आर्थिक जीवन में जहाँ वहाँ समृद्धि का अतिरेक है, वहीं व्यक्तिगत जीवन परेशान व त्रस्त है। बीयर और डीयर से उनकी दिनचर्या का आरम्भ होता है, मासांहार करना व रात को कैसिनों (नृत्य एवं जुआघर) देखना उनकी आदत पड़ गई है। पारिवारिक जीवन विनष्ट हो रहा है। वह वातावरण हमारे देश में भी फैलने वाला है। आज कल भारत में भी टी० वी० में जो कार्यक्रम आ रहे हैं वे व्यक्तिगत जीवन में हिंसा, शराब, पर-स्त्री गमन व चरित्रहीनता के दृश्य प्रदर्शित करते हैं एवं परिवार में विघटन की भावना दिखाते हैं। ऐसे समय में जैन धर्म के सात्विकता, प्रेम, भ्रातृभाव, दया व करुणा के विचारों का प्रचार करना बहुत बड़ी चुनौती का कार्य है।

हेरिटेज डायरी

हाल ही में मैने अरविन्द आश्रम, पाण्डिचेरी द्वारा प्रकाशित एक "संस्कृति

(Hiritage) डायरी'' देखी। इसमें भगवान् बुद्ध, श्रीकृष्ण, बाल्मिकि, तुलसी, कबीर, विवेकानन्द, महर्षि रमण, महात्मा गांधी आदि की ३६५ सूक्तियां देखीं। लेकिन आश्चर्य है कि उसमें महावीर या किसी भी अन्य जैन महापुरुष की एक भी सूक्ति नहीं है। इसमें दोष उन लोगों का नहीं वरन् हमारा ही है जो हमने भगवान् महावीर के सिद्धान्तों को सरल ढंग से लोकप्रिय नहीं किया।

आगम ज्ञान का सरल भाषा में प्रचार :

जैनधर्म का मूल साहित्य प्राकृत भाषा में संगृहीत है। यह ज्ञान का अक्षय भण्डार है। जैन आगम साहित्य, जैन धर्म, दर्शन, आचार, संस्कृति तथा भारतीय जीवन विधा को समझने के मूल स्रोत हैं। स्व० उपाध्याय श्री अमर मुनिजी के शब्दों में, ''जैन साहित्य का सूक्ति-भण्डार महासागर से भी गहरा है। उसमें एक से एक दिव्य असंख्य मणि-मुक्ताएँ छिपी पड़ी हैं। अध्यात्म और वैराग्य के लिए ही उपादेय नहीं, किन्तु पारिवारिक, सामाजिक आदि के विकास हेतु नीति, व्यवहार आदि के उत्कृष्ट सिद्धांत-वचन इनमें यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं।'' (सूक्ति-त्रिवेणी पृष्ठ ११) लेकिन हमने आगम ग्रंथों को प्राचीन बहुमूल्य वस्तु (Antique) समझकर भण्डारों व पुस्तकालयों में रख दिया या वे मात्र साधु-सन्तों के लिए उपयोगी हैं, यह मान कर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री कर दी। यह स्थिति ठीक नहीं है। जिस प्रकार गीता प्रेस, गोरखपुर वालों ने गीता और रामायण आदि वैदिक ग्रन्थों की करोड़ों प्रतियां लागत से भी कम मूल्य में वितरित की हैं, वैसे ही हमें भी आगम की गाथाओं एवं सूक्तियों को सरल भाषा में विभिन्न भाषाओं में प्रचारित करना होगा। आज बाइबिल का अनुवाद दुनियाँ की सभी भाषाओं में हो चुका है तथा उसकी करोड़ों प्रतियां वितरित की जाती हैं। हरे कृष्ण आन्दोलन (ISCONE) को तो प्रारंभ हुए १०० वर्ष भी नहीं हुए हैं पर उसके एक करोड़ अनुयायी हैं जिन्होंने श्री प्रभुपाद द्वारा रचित गीता और भागवत की सुन्दर प्रतियाँ करोड़ों की संख्या में वितरित की हैं। हमें भी इसी प्रकार उत्तराध्ययन सूत्र, तत्त्वार्थसूत्र, आत्म-सिद्धि शास्त्र, भक्तामरस्तोत्र आदि को जन-जन में (जैनों एवं अजैनों में) लोकप्रिय करना होगा। हम लोगों ने भी बहुत साहित्य अनेक सम्प्रदायों में प्रकाशित किया है पर उन सब द्वारा जैन धर्म का लोक मंगलकारी सार्वजनीन स्वरूप लोगों तक नहीं पहुंचा है। भगवान् महावीर की वाणी में सारे विश्व की मानव जाति को एक सूत्र में गुम्फित करने की क्षमता है।

धन के स्थान पर धर्म को महत्त्व

वर्तमान जैन समाज ने धर्म को गौण व धन को जीवन में प्रधान स्थान दे दिया है, यह आज की दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है। धर्म जीवन में प्रमुख स्थान रखता है, यह हम कहते तो हैं पर उसे जीवन व्यवहार में नही लाते। भगवान् महावीर ने कहा-

''लब्भन्ति विमला भोए, लब्भन्ति सुर संपया।
लब्भन्ति पुत्त मित्तं च, एगो धम्मो न लब्भई'' ।।

अर्थात् पृथ्वी के सभी सुखोपभोग उपलब्ध होना कठिन नहीं है, देवताओं के तुल्य संपत्ति प्राप्त होना भी कठिन नहीं है, आज्ञाकारी पुत्र व हितैषी मित्र मिलना भी कठिन नहीं है अर्थात् ये सब दुर्लभ नहीं हैं। केवल मात्र शुद्ध धर्म के मूल्यों की प्राप्ति होना दुर्लभ है। बिना धर्म की साधना के मनुष्य का जीवन व्यर्थ है, पशु तुल्य है। महर्षि भर्तृहरि ने कहा है-

''येषां न विद्या न तपो न दानं, ज्ञानं न शीलं गुणो न धर्मः।
ते मृत्युलोके भुवि भार भूता, मनुष्य रूपेण मृगाश्चरन्ति ।।''

अर्थात् जिनके पास न विद्या है, न तप है, न दान है, न ज्ञान है, न गुण है, न धर्म है, वे इस मृत्युलोक में पृथ्वी के भारभूत हैं और पशु होते हुए भी मनुष्य के रूप में विचरण करते हैं।

आधुनिक ढंग से धर्म का प्रचार

विज्ञान व तकनीकी का आज जो विकास हो रहा है, उसके अनुसार हमें भी आधुनिक आवश्यकताओं के अनुसार जैन धर्म को प्रचारित करना होगा। इसमें कोई संदेह नहीं कि आज जैन धर्म के प्रति लोगों में बहुत जिज्ञासा बढ़ी है। साधु-संतों के पास भी बहुत बड़ी संख्या में भाई-बहन आते हैं। हमें जैन अध्यात्म को रुचिकर ढंग से समझाना होगा। जैन धर्म शाकाहार, सदाचार व शुद्धाचार की प्रेरणा देता है। भोजन की शुद्धि से मन शुद्ध होता है और मन की भावना शुद्ध होने से मनुष्य गलत कर्म नहीं करता। आज दुनियाँ के अनेक देशों में शाकाहार का व्यापक प्रचार-प्रसार हो रहा है। वह इसलिए नहीं कि उनका धर्म उनको इसकी प्रेरणा देता है। पर आज के श्रेष्ठ चिकित्सक, वैज्ञानिक व पर्यावरणशास्त्री यह कहते हैं कि यह भोजन सुपाच्य है, शरीर को स्वस्थ बनाता है, शक्ति प्रदान करता है व मन को शान्त, प्रसन्न व प्रफुलित रखता है। आज अमेरिका में १ करोड़ २४ लाख लोग व ब्रिटेन में ३५ लाख लोग शाकाहार को अपना रहे हैं। पर्यावरण शास्त्री कत्लखानों को बंद कराने का प्रयत्न कर रहे हैं। भारत में श्रीमती मेनका गांधी ने तर्कपूर्ण ढंग से शाकाहार की गुणवत्ता को व्यक्त किया है। इसके बावजूद दुर्भाग्य से हमारे देश में मासांहार का प्रचलन बढ़ रहा है। यहाँ मांस, अंडे, मछली-मत्स्यों की खेती होती है। यान्त्रिक कत्लखाने बढ़ रहे हैं। यह एक ऐसी चुनौती है जिसका तुरन्त और संगठित ढंग से मुकाबला न करने पर हमारे देश का बुनियादी ढांचा ही ढह जायेगा।

अनुसंधान के क्षेत्र में कार्य

भारत के अनेक विश्वविद्यालयों में प्राकृत व जैन विद्या के विभाग खुले हैं

जहाँ एम० ए०, एम० फिल० व पीएच० डी० का अनुसंधान कार्य हो रहा है। लेकिन वहाँ भी साधनों व श्रेष्ठ अध्यापकों की कमी है एवं समृद्ध पुस्तकालय भी नहीं हैं। लेकिन फिर भी इन अनुसंधान कार्यों द्वारा जो आंकड़े प्रकाश में आए हैं वे आश्चर्यान्वित करने वाले हैं। असल में जैन इतिहास का सही रूप विद्वानों ने अब तक नहीं समझा है। कुछ वर्षों पूर्व सुप्रसिद्ध आगमज्ञ स्व० श्री जौहरीमलजी पारिख को पुरी के शंकराचार्यजी द्वारा आयोजित भगवद्गीता पर एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में भाग लेने का आमन्त्रण मिला। उन्होंने उस सम्मेलन के लिए एक बहुत ही सुन्दर लेख लिखा जिसमें गीता के "सम बुद्धि" भाव की जैन धर्म के "सामायिक" भाव से तुलना की थी। ४२ पृष्ठों के इस विद्वत्तापूर्ण लेख के अंतिम पृष्ठ में उन्होंने लिखा कि "जैन परम्परा के अनुसार योगिराज श्रीकृष्ण जैन धर्म के २२ वें तीर्थंकर भगवान् अरिष्टनेमि के चचेरे भाई थे। अत: उनके जीवन पर भगवान् श्री अरिष्टनेमि का गहरा प्रभाव था। अत: गीता पर भी उनके चिन्तन का प्रभाव पड़ा हो तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए।" कुछ दिनों पूर्व मद्रास के एक श्रेष्ठ पत्रकार से, जो वैदिक धर्म के मूर्धन्य पण्डित हैं, मैं जैन आगम सूत्रों पर चर्चा कर रहा था। उन्होंने कहा कि हम लोग इस बात से अनभिज्ञ हैं कि जैन धर्म में इतने उदार और सार्वजनीन भाव हैं। इनका व्यापक प्रचार होना चाहिए।

आधुनिक शोधों के सुखद परिणाम

आधुनिक शोधों के परिणामस्वरूप विद्वान् लोग यह मानने लगे हैं कि श्रमण संस्कृति इस देश की मूल एवं प्राचीनतम संस्कृतियों में से एक है। भगवान् ऋषभदेव ने जिस प्रवृत्ति धर्म का समन्वयात्मक रूप लोगों के सामने रखा था, उस पर भी काफी शोध हुआ है। अब यह भी अनुसंधान किया जा रहा है कि वेदों में प्रतिपाद्य देवों, प्रकृति की स्तुतियों और यज्ञ-यागादि को प्रधानता देने के बाद उपनिषदों का निर्माण शुद्ध आध्यात्मिक धरातल पर किन कारणों और किन परिस्थितियों में कैसे संभव हुआ? यह तथ्य प्रकाश में आ रहा है कि यह भारत की आत्मवादी श्रमण संस्कृति के प्रभाव से ही हुआ। डॉ० फूलचन्द जैन "प्रेमी" ने "उपनिषद साहित्य पर श्रमण संस्कृति के चिन्तन का प्रभाव" नामक लेख में लिखा है- "मुण्डकोपनिषद् व कठोपनिषद् आदि उपनिषदों में आत्म विद्या का स्वरूप विवेचन विशेष रूप से प्रारम्भ हुआ दिखलाई देता है, जब कि वेदों में आत्मविद्या के विवेचन का प्राय: अभाव ही है।" सिद्धान्ताचार्य पंडित कैलाशचन्द शास्त्री ने लिखा है, "आत्मा, पुनर्जन्म, अरण्य, संन्यास, तप और मुक्ति ये सारे तत्त्व परस्पर में सम्बद्ध हैं। आत्म विद्या का एक छोर पुनर्जन्म तो दूसरा मुक्ति है। ये सब तत्त्व वैदिकेतर संस्कृति से वैदिक संस्कृति में प्रविष्ट हुए हैं।" राष्ट्रकवि श्री रामधारीसिंह दिनकर ने लिखा है- "हिन्दुत्व और

जैनत्व आपस में घुलमिलकर इतने एकाकार हो गए हैं कि आज का साधारण हिन्दू यह जानता भी नहीं कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह-ये जैन धर्म के उपदेश थे, हिन्दू धर्म के नहीं।''

सिद्धान्तों का नवीन प्रस्तुतीकरण

आज हमें जैन धर्म के आत्मा, परमात्मा, कर्म, पुनर्जन्म इत्यादि सिद्धान्तों को नये रूप में प्रस्तुत करना होगा। क्रोध, मान, माया व लोभ आध्यात्मिक जीवन के लिए ही घातक नहीं हैं, व्यावहारिक जीवन में भी संकट उत्पन्न करते हैं। आज का नवयुवक पाप-पुण्य व स्वर्ग-नरक की बातों को नहीं समझता। उदाहरणार्थ रात्रि भोजन में पाप है, यह बात उसकी समझ में नहीं आती। किन्तु इसके स्थान पर चिकित्सकों की राय द्वारा यह समझाया जाय कि देर से भोजन करने पर विलम्ब होने से कब्ज आदि अनेक रोगों के शरीर में फैलने की सम्भावना रहती है। रात्रि में छोटे-२ जीवों के भोजन में गिरने से स्वास्थ्य को नुकसान पहुंचता है। आज का नवयुवक धर्म क्रियाओं में भी रुचि नहीं रखता। अतः उसे ध्यान, स्वाध्याय, गीत और भजन द्वारा जैन अध्यात्म की ओर आकर्षित करना होगा। भगवान् महावीर ने नारी जाति को जो सम्मान दिया, वैसा अन्य किसी धर्म ने नहीं दिया। उनके शिष्यों में जितने श्रमण थे। उनसे अधिक श्रमणियां थीं। आज भी हमारी बहनें धर्म क्रियाओं में जितनी रुचि रखती हैं, भाई उतना नहीं रखते । इसी प्रकार भगवान् महावीर ने समाजिक समता की बात रखी कि जन्म से कोई ऊँचा और नीचा नहीं होता, कर्म से होता है। इस प्रकार उनके अहिंसा समतावाद, विचार-स्वातंत्र्य इत्यादि सिद्धान्तों द्वारा हम नवयुवक-नवयुवतियों को जैन विद्या की ओर आकर्षित कर सकते हैं।

प्रत्येक परम्परा का सम्मान

अब हमें धर्म के तत्त्वों को आंकड़ों व चार्टों द्वारा ऑडियो, वीडियो व कॉम्प्यूटर द्वारा प्रचारित करना होगा। मूल साहित्य की तटस्थ व्याख्याएं करनी होंगी जिससे कि गम्भीर सिद्धान्तों को सरलता से समझाया जा सके। टी० वी० व रेडियो पर भी जैन धर्म के बारे में सरल, बोधगम्य व वैज्ञानिक वार्ताएं प्रसारित करनी होंगी। न केवल सम्पूर्ण जैन समाज को संगठित रूप में कार्यक्रम आयोजित करने चाहिए बल्कि शान्ति, जीवदया, सदाचार व समता के क्षेत्र में कार्य करने वाले अन्य सभी समूहों को साथ लेकर काम करना होगा। जैसा कि पण्डित श्री सुखलाल जी ने लिखा है "प्रत्येक धर्म परम्परा को दूसरी धर्म परम्परा का उतना ही आदर करना चाहिए जितना वह अपने बारे में चाहती है। धार्मिक और सांस्कृतिक अध्ययन-अध्यापन की परम्परा को इतना विकसित करना चाहिए कि जिसमें किसी एक धर्म परम्परा का

अनुयायी अन्य धर्म-परम्पराओं की बातों से सर्वथा अनभिज्ञ नहीं रहे और उनके मन्तव्यों को गलत रूप में न समझे।''

शिक्षण के क्षेत्र में कार्य

शिक्षण के क्षेत्र में आज हमारी अनेक संस्थाएं प्राथमिक विद्यालय से लेकर विश्वविद्यालय स्तर पर कार्यरत हैं। लेकिन जैन समाज द्वारा संचालित एवं जैन नाम से चलने वाली संस्थाओं में भी जैन तत्त्व-ज्ञान व आदर्शों की पढ़ाई बहुत कम होती है। उनके कार्यों का मूल्यांकन करना आवश्यक है। आज हमें समन्वयात्मक कोर्स बनाने होंगे, जिनको जैन समाज के सभी वर्गों की मान्यता मिल सके। महावीर सेवा संघ, मुंबई ने फेडेरेशन आफ जैन एसोसिएसन्स इन नार्थ अमेरिका (जैना) के सहयोग से इसी प्रकार का एक कोर्स पांचवी कक्षा तक के छात्रों के लिए बनाया है, जो अनुकरणीय है। विदेशों में जैन विद्या का जो प्रचार हो रहा है, वह सम्प्रदायातीत एवं सार्वजनीन है। अन्य धर्मों वाले भी इनको अच्छी प्रकार से समझ सकते हैं। १२ वीं कक्षा तक का जो कोर्स बने उसमें नैतिक शिक्षा, अध्यात्म-ज्ञान, जैन इतिहास और परम्परा, प्राकृत भाषा व भजन के पाठ्यक्रम सम्मिलित होने चाहिये।

जहाँ तक स्नातकीय कोर्स का सम्बन्ध है सामान्यतया यह प्रश्न उठता है कि विद्यार्थी जैन तत्त्वज्ञान की पढ़ाई में रुचि नहीं लेते। इसके लिए ब्रिटेन के हमारे जैन बंधुओं ने डे मेंटो युनिवर्सिटी में एक बहुत ही सुन्दर स्नातकीय कोर्स विकसित किया है जिसे बी० ए० डिग्री कोर्स के साथ जोड़ दिया है। जो छात्र कामर्स, कानून, मैनेजमेन्ट, कॉम्प्यूटर, विज्ञान आदि का डिग्री कोर्स करते हैं, उनको साथ में जैन विद्या की पढ़ाई का भी लाभ मिलेगा। प्रथम वर्ष में निम्न दो विषय हैं:

१. भारतीय संस्कृति और जैन धर्म
२. जैन धर्म एवं दर्शन-भाग१

द्वितीय एवं तृतीय वर्ष में निम्न विषयों में से ४ विषय लेने होंगे -

१. जैन धर्म एवं दर्शन-भाग-२
२. इतिहास के परिपेक्ष्य में जैन समाज एवं संस्कृति
३. आधुनिक जैन समाज एवं संस्कृति
४. मुख्य जैन ग्रन्थों का अंग्रेजी अनुवाद
५. प्राकृत भाषा
६. वैकल्पिक विषय

इससे विद्यार्थी आर्ट्स, वाणिज्य व विज्ञान की डिग्री के साथ जैन धर्म का भी काफी ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

कार्यकर्ताओं की रुचि एवं सहयोग

सबसे जरूरी बात यह है कि प्राथमिक से विश्वविद्यालय तक के सभी कार्यक्रमों में समाज के कार्यकर्ताओं की रुचि एवं सहयोग अपेक्षित है। शिक्षाविद् शैक्षणिक विषयों और कार्यक्रमों का संचालन कर सकते हैं पर संस्थाओं के व्यवस्थापकीय एवं वित्तीय कार्यक्रमों में समाज के प्रबुद्ध वर्ग का सहयोग नितान्त आवश्यक है। हमारे समाज का शिक्षित वर्ग विशेषतः, जिन्होंने वाणिज्य, कानून व अन्य तकनीकी विषयों में उच्च शिक्षा प्राप्त की है, का सहयोग एवं योगदान इन शिक्षण कार्यक्रमों को सफल बना सकेगा।

औपचारिक शिक्षा के अतिरिक्त हमारा समाज अनेक स्वाध्याय कार्यक्रमों, पाठशालाओं व ज्ञानालयों का भी संचालन करता है, जिनके द्वारा जैनत्व की शिक्षा दी जाती है। इनके कार्यक्रमों का भी मूल्यांकन किया जाना चाहिये। इनका भी शिक्षण असाम्प्रदायिक ढंग से हो तथा इनमें आडियो-वीडियो का उपयोग किया जाये। श्रीमती अनुराधा पौडवाल की भक्तामर की कैसेट (वीडियो) बहुत लोकप्रिय हुई है। "बारह भावना" एवं "दश लक्षण धर्म" पर श्री हुकुमचन्द भारिल्ल की कैसेटें भारत एवं विदेशों में एक लाख से अधिक बिकी हैं। स्वाध्याय के इन कार्यक्रमों का पाठ्यक्रम सरल व सुबोध हो, इस सम्बन्ध में इन्दौर के डॉ० नेमिचन्द जैन ने जो जैन विद्या का पाठ्यक्रम बनाया है, वह बहुत ही उपयोगी और प्रभावोत्पादक है। अगर प्रत्येक भाई व बहन जैन विद्या के अध्ययन व प्रचार में सप्ताह में एक घंटा समय भी देवें तो हम सारे देश में जैन विद्या का प्रभावोत्पादक कार्यक्रम प्रस्तुत कर सकते हैं।



साहु सरणं पवज्जामि

डॉ० पानमल सुराणा*

अनन्त उपकारी श्रमण भगवान् महावीर ने अपने निर्वाण से कुछ ही समय पूर्व पावापुरी के अंतिम समवसरण में उत्तराध्ययन सूत्र की देशना की थी। इसका शुभारम्भ सम्पूर्ण श्रमणाचार की नींव, अणगार की जीवन भूमिका - 'विनय' से होता है। 'विनय' का क्षेत्र शिष्टाचार से प्रारम्भ होकर चतुर्विध संघ (साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका) के सम्पूर्ण सदाचार की परिधि में परिव्याप्त है। गुरुजनों के समक्ष विनय एवं विवेकपूर्वक कैसे हलन-चलन करना, उनके अनुशासन की सीमा में रहकर किस प्रकार ज्ञानार्जन करनां तथा सम्भाषण एवं वर्तन में विनय-विवेक रखते हुए उसे जीवन व्यवहार में लाना ये सब विषय 'विनय' प्रकरण में ही सम्मिलित हैं। इसीलिए श्रमण भगवान् महावीर ने उत्तराध्ययन सूत्र में सर्वप्रथम 'विनय' को सर्वोपरि प्राथमिकता देते हुए साधक को जीवन में व्यवहार कुशल बनाने की देशना प्रदान की।

सभी तीर्थङ्कर अपने समय में 'धम्म-तित्थयरे'-धर्मतीर्थ के स्थापक रहे हैं। श्रमण भगवान् महावीर ने भी चतुर्विध संघ की स्थापना की थी। साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविका ये दोनों वर्ग आध्यात्मिक जीवन में एक-दूसरे के पूरक समझे जाते रहे हैं। साधु-साध्वी तो निश्चयात्मक रूप से श्रावक-श्राविकाओं को धार्मिक मर्यादाओं में रखने के लिए सर्वथा संलग्न रहे हैं, वहीं पर धर्मनिष्ठ, ज्ञानी एवं व्रती श्रावक-श्राविका भी श्रमणाचार की मर्यादा लांघने वाले साधु-साध्वी पक्ष पर अंकुश रखते हैं। फलस्वरूप चतुर्विध संघ में विकृतियों के आगमन पर रोक लगी रहती थी। इस प्रकार के सामूहिक अनुशासन के पीछे 'विनय' की प्रमुख भूमिका रही है। गुरुजनों का सम्मान सर्वोपरि रहा है।

आध्यात्मिक साधना में गुरु का पद सर्वदा उच्च रहा है - चाहे वह आचार्य हों, उपाध्याय हों अथवा सुसाधु ही हों - ये सभी गुरु पद में ही सम्मिलित हैं। गुरुदेव हमारी जीवन नौका के सुनाविक होने के फलस्वरूप संसार-समुद्र के काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि भयंकर आवर्तों - भँवरजाल में से हमें सकुशल पार उतारने में सहायक होते हैं। वे हमारे अज्ञान अथवा मिथ्याज्ञान के आवरण को हटाकर सद्ज्ञान अथवा सम्यग्ज्ञान की ओर अग्रसर करते हैं। कहा भी है -

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानांजनशलाकया ।
चक्षुरुन्मिलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

*डी० शंग्रीला एपार्टमेन्ट, ६१ जतिनदास रोड, कलकत्ता-७०००२९

सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति सम्यग्दर्शन के द्वारा होती है। इसी सम्यग्दर्शन अथवा सद्श्रद्धा को हम गुरुवन्दना में 'वंदामि' (वन्दन, स्तुति करके), 'नमंसामि' (नमस्कार-प्रतिष्ठा करके), 'सक्कारेमि' (सत्कार, आदर, श्रद्धा करके), 'सम्माणेमि' (सम्मान, बहुमान करके) आदि विनयबद्ध शब्दों से सद्गुरु के प्रति श्रद्धा अर्पित करते हैं। हार्दिक श्रद्धा-रहित वन्दन गुरु वन्दन न रहकर मात्र दिखावा रह जाता है। यह पंचाङ्ग (दो हाथ, दो पैर एवं मस्तक) दण्डवत् केवल द्रव्य वन्दन ही रह जाता है। इसमें भाव सहित विशुद्ध मन से श्रद्धा का अभाव है। सम्यग् श्रद्धा के बिना गुरु से सम्यग्ज्ञान प्राप्त करना दुष्कर है।

जैन संस्कृति में आचार्य सद्गुरु वर्ग का उच्चतम पद है। श्रावक-श्राविकाओं द्वारा आचार्यों को अपने क्षेत्र में फरसने अथवा चातुर्मास फरमाने की भाव भीनी याचना-विनति करने की जैन धर्म में एक प्राचीन परम्परा, प्रथा रही है। वर्तमान में यातायात के द्रुतगामी एवं सुगम साधन प्राप्त होने से श्रावक-श्राविकाएँ अपने क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करने में सामूहिक रूप में स्वयं आचार्यश्री के समक्ष उपस्थित होकर यह भावसिक्त विनति प्रस्तुत करते हैं। इसके विपरीत उन्नीसवीं सदी में जब यातायात की इतनी सुलभ एवं द्रुतगामी सेवाएँ उपलब्ध नहीं थी तब यही विनति सन्देशवाहक द्वारा एक विशेष 'विनति-पत्रिका' आचार्य श्री को विशुद्ध भाव से श्रद्धापूर्वक उनका गुणगान करते हुए विशेष रूप से शब्दबद्ध की जाती थी। यही नहीं उस विनति-पत्रिका में आध्यात्मिक चित्रकारी, पद्यावली आदि का प्रयोग करते हुए उसे काफी लम्बा भी बना दिया जाता था। मेड़ता (राजस्थान) के संघ प्रमुखों द्वारा तपागच्छ के आचार्य श्री विजयजिनेन्द्र सूरि जी को अहमदाबाद के निकट वीरमपुर नगर में संवत् १८६७ (१८१० ई०स०) में भेजा गया विनति-पत्र ३२ फुट लम्बा था जिसमें १७ फुट लम्बी तो केवल चित्रकारी थी।

इसी शृंखला में मैं यहाँ पर नागौर (राजस्थान) के लुंकागच्छीय मेड़ता के श्रीसंघ (प्रमुखतः सुराणा) द्वारा जैसलमेर में विराजित आचार्य श्री को पौष वदि चतुर्दशी विक्रम संवत् १९३४ (१८७७ ई० स०) में भेज गए 'विनति' का नीचे उद्धरण करता हूँ जो मुझे श्रीमान् भँवरलाल नाहटा, कलकत्ता के सौजन्य से प्राप्त हुआ है जिनका मैं हृदय से आभार प्रकट करता हूँ। उपसंहार में यथा -

गुरुदीपक गुरु चांदणों, गुरु बिन घोर अंधार ।
सद्गुरु मैं नहीं बीसरूं, गुरु मुझ धर्म आधार ॥

॥: ए द्रं = ॥ ॐ नत्वा ॥ स्वस्ति श्री आदिजिनं प्रणम्य रम्यमनसा श्रीमत तत्र श्री जेसलमेर महद्दुर्गे श्रीमच्चारित्रचूडामणीन् श्री जिनशासनमंडकान् दशविध समाचार्युपेतान श्री जिनाज्ञोररीकारकान् अमृतमयमहिमानिधानान् नरनारीसेवित पादारविंदान्

गच्छ भार निर्वाहक वृषभान् समितिगुप्त्यादि विराजमानान् पंचाचारनिरतिचार पालकान् विमलजनवांछितार्थप्रापकान् समग्रगुणगणारोहणाचलान् विमलयशःपूरपूरितदिग्मुखान् सद्देशनारंजित भविकलोकनिकरान् अनेकागम रहस्य कोविदान् सल्लब्धिसागर गौतम गणधरसन्निभान् सकलकलाकलापकौमुदीपतिसन्निभान् मिथ्याततमःप्रध्वंसकतरणीन् साधु द्विरदयूथादिपतीन् अभिवेशागमांजित बुद्धिनेत्रान् समुद्दचरणमुनिजन वांछित सूत्रार्थ प्राप कल्पद्रुमान् मिथ्यात्वमत्तद्विपश्रेणिकेसरी प्रकरसन् अज्ञान परम शत्रुध्वांतविदारण मार्त्तण्डान् पंचमहाव्रत पंचविंशतिभावनासमन्वितान् गुणगण गणिष्टान् विद्वज्जनवरिष्टान् सरस्वतीकण्ठाभरणान् वादिविजयलक्ष्मीशरणान् अबोध जीव प्रतिबोधकान् दया धर्म्म दीपावकान् हिंसाधम्म उत्थापकान् षट्जीव दयारक्षकान् राद्धांत वेदान्त-व्याकरणच्छंदोलंकार नाटक तर्क स्मृति पुराणज्ञातन् विधिकदलीकृपाणान् विज्ञश्रेणिशिरोमणीन् कुमतांधकार राशि नभोमणीन् जितवादि वृन्दान वादि गरुड़गोविन्दान् वादि घट मुद्गरान् वादिघूक भास्करान् डिंडीरपिण्डपांडुरयशः खंड मण्डितब्रह्माण्डणन् विवेक कला कमलिनी विकाशने मार्त्तण्डावतारान् अनवद्य गद्य पद्य-विद्या चतुर्दशधरान् परमाप्तरत्न रत्नाकरावतारान् मेरुगिरिवद्धीन सारान् क्षीरसागर तत्परमगंभीरान् विहिताचार चारु चारित्राचरणशीलान् देश जाति कुलरूपादि प्रवराचार्य धुर्य वर्य गुण गणालंकृत विग्रहान् षटत्रिंशद् गुणगण विराजमानान् पूज्यपरमपूज्य परम पवित्र पूज्याचार्य्यजी श्री १०९ श्री श्री श्री श्री श्री श्री श्री श्री श्री श्री श्री श्री श्री हर्षचन्द्रजी चिरंजीवी चरणकमलान् महर्षि श्री मेघराजजी महर्षि श्री सुखानन्दजी म श्री राजसीजी म श्री दुरगदास जी म श्री राजसीजी म श्री मोटाजी व्रतरागी लघु शिष्य प्रमुख समस्त साधुचरण मंडलकान् अत्रश्री मेदनीपुर थी लिखितं सदासेवक आज्ञाकारी ...... सेवक...............हीरानंद अणदाकेन वंदणावीछोजी श्रीजीसाहिब सेवकां ऊपर कृपा दया मया सौम्य निजर सुदृष्टि राखो छो तिणथी विशेष राखजो जी हमे तो श्री श्रीपूज्यजी साहिबां रा सेवक छा जी श्री जी राज सेवकां ने सेवककरी जाणज्यो जी अप्रंच इहां श्री जी रा तप तेज प्रताप करिकै सकल प्रकारे सुख शाता छै जी श्रीजी साहिब आप साता मानजो जी अत्र श्री जीना प्रसाद थी पजुसणा पर्व्व सुखे समाधै निर्विघ्न पणै पडिक्कम्या छै जी पजूसणा में हमें अठाई तप कीधो हतो सो श्रीजी रा प्रसाद थी निर्विघ्नपणे थई जी आप साता मानजो जी श्री श्रीपूज्यजी साहिबांसुं देवसी पखी संवच्छरी राई चौमासी संबन्धी खमितखामणा खमावां छा जी श्री जी साहिब राज हमारा खमित खामणा खमखोजी आप खमवा समर्थ छोजी श्रीजी साहिबां रो ध्यान

स्मरण रात दिवस करांछाजी श्रीजी रो दर्शन करस्यां ते दिवस सफल हुसीजी सफल गिणस्यां जी श्री राज बलता कागद पत्र वेगा प्रसाद करजो जी लिखत समस्त समग्र श्री मेड़ता री नागोरी लुंकां री वनणा वार १०८ दिन प्रते अवधार जो जी श्रीपूज्यजी चौमासौ उतरां समग्र उपरे कृपा करने मेड़ता पधारजो श्रीजी साहब रा दरसण री उत्कंठा घड़ी छै श्रीजी साहब रो दरसण कर मां सो दिन धन्य होसी जी श्री जी साहब सदा मेड़ता री सामग्री ऊपर कृपा भाव राखो छै तिणसुं विशेष राखसी जी

मिती पोष वदि १४ सं १९३४ री
लि० जैचंद देवचंद हुकमचंद उदैचंद विनेचंद सुराणा री वनणा १०८ दिन प्रते अवधर सो जी लि० माणकचंद प्रे......चंद गलालचंद शिवचंद रूपचंद मोतीचंद........ताराचंद सुराणा री वंनणा वार १०८ दिनप्रते अवधार सो जी
लि० सुराणा माणकचंद जसरूप वधरमल ...जालमचंद खूबचंद....वनणा १०८ अवधार जो जी घणैमान
लि० सिरदारमल सुराणा री वनणा वार १०८ करी अवधार सो जी
वैद अभयमल जी समस्त बालगोपाल री वन्दणा वांचजो जी १०८ करी अवधार जो जी
लिखतुं रूपचंद अनोपचंद नगजी गुमानचंद सचंती री वनणा १०८ वार दिन प्रति अवधार सो जी
लिखतुं इंदरचंद चंद्रभाण जगरूप जीवण री वनणा १०८ वार दिनप्रति अवधार सो जी लिखतुं उत्तमचंद ....री वनणा वार १०८ वार बचावसी जी
लिखतुं सरदारमल सरूपचंद सवणमल संतोखचंद छतरमल करसचंद
धीरजमल बहादुरमल बापणा वजपाल री वनणा १०८ अवधार सो जी
लिखतुं सारडा जीतमल......की वनणा १०८ वार अवधार सी
अमरसिंह ....शाह...........१०८ अवधार सी

॥ इति ॥

कांगड़ा के ऐतिहासिक किले में श्री अम्बिका माता का पावन पीठ

महेन्द्र कुमार 'मस्त'*

प्राचीन काल से वर्तमान तक, वैभव व गरिमा के प्रतीक कांगड़ा किले के मन्दिर व भग्नावशेष, हमारे गौरवपूर्ण इतिहास की यादगार हैं।

अपने अतीत से विक्रम की १७ वीं सदी तक हिमाचल के कई आंचलिक नगर हिंदू व जैन मन्दिरों से सुशोभित थे। पिंजौर, नादौन, नूरपुर, कोठीपुर (कोटिलग्राम), गुलेर, पालमपुर और ढोलबाहा से मिले चिन्ह, तीर्थंकर प्रतिमाएं व मंदिरों के अवशेष इस गौरवपूर्ण इतिहास की साक्षी हैं।

सन् १८७५ के आसपास भारतीय पुरातत्त्व के पितामह सर कनिंघम ने कांगड़ा आदि क्षेत्रों का दौरा किया था। उनकी रिपोर्ट में कांगड़ा किले में भगवान् पार्श्वनाथ के जैन मन्दिर में तीर्थंकर ऋषभदेव की प्रतिमा व माता श्री अंबिका देवी के पावन पीठ होने का उल्लेख है।

पाटन के हस्तलिखित ग्रन्थ भण्डारों का निरीक्षण करते हुए मुनि जिनविजय जी को सन् १४२७ का लिखा **'विज्ञप्तित्रिवेणी'** नाम का लघुग्रंथ मिला। इसमें आचार्य जिनराजसूरि के शिष्य उपाध्याय मुनि जयसागर की निश्रा में फरीदपुर (सिंध) नामक स्थान से एक यात्री संघ द्वारा नगरकोट कांगड़ा की यात्रा करने का विस्तृत विवरण है। रास्ते के स्थानों में निश्चिन्दीपुर, जालन्धर, देवपालपुर (ढोलबाहा), विपाशा (व्यास) नदी, हरियाणा (होशियारपुर के पास कस्बा) व कांगड़ा नगर में भगवान् शांतिनाथ का मंदिर महावीर स्वामी का मन्दिर और किले के मन्दिरों के वृतान्त व दर्शन पूजन का उल्लेख है। इसी वृतान्त में ही किला कांगड़ा में यात्री संघ द्वारा माता अम्बिका की पूजा का भी उल्लेख है। उस समय कांगड़ा के शासक राजा नरेन्द्रचन्द्र थे, जिनका कुल सोमवंशीय (चन्द्रवंशी) था। उपाध्याय जयसागर के ही द्वारा रचित- "नगरकोट चैत्य परिपाटी" (गाथा १०) के अनुसार यह राज परिवार श्री अम्बिका देवी का उपासक था।

चन्द्रवंसि जे राय राणी जसु पयतलि कुलइ
अम्बिकादेवि पसाइ तहिं मन वंछित फल मिलई

साहित्य वाचस्पति श्री भँवरलालजी नाहटा ने 'विज्ञप्तित्रिवेणी' का जो हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया है, उसके अनुसार 'यह (कांगड़ा) महातीर्थ श्री नेमिनाथ

---

*"देवदर्शन" ३२०, इण्डस्ट्रियल एरिया - II, चण्डीगढ़

स्वामी के समय सुशर्म नामक राजा ने स्थापित किया है। तत्कालीन कवितामयी रचना "श्री नगरकोट तीर्थ विनती" (रचना काल - १४३१ ई०) में इसका उल्लेख इस तरह किया गया है -

वारई नेमीसर तणए, थापिय राय सुसरंमि
आदिनाई अम्बिका सहिय, कंकडकोट सिरम्मि

'विज्ञप्तित्रिवेणी' में एक अन्य स्थान पर ज्वालामुखी, जयन्ती, अम्बिका और लंगड़वीर का भी नगरकोट (कांगड़ा) के साथ उल्लेख मिलता है। पंजाब यूनिवर्सिटी लाहौर के डॉक्टर बनारसीदास जैन (१९३४) के अनुसार कांगड़ा किले में अम्बिका देवी के मन्दिर के दक्षिण की ओर दो छोटे-छोटे मंदिर हैं जिनके द्वार पश्चिम की ओर हैं।

अनूप संस्कृत लायब्रेरी के गुटके में अभयधर्म गणि (सन् १५२३) द्वारा रचित 'नगरकोट वीनती' की अंतिम पंक्तियां इस प्रकार हैं -

इय आदिजिणवरू भुवन दिणयरू नगरकोटि नमंसिउ ।
गणि अभय धरमहि विविह भत्तिहि करिय जातय संसीउ ।।
जो धम्म नायक सुख्यदायक देवि अम्बिका परवरिउ ।
धण धन्न कारण कुगई वारण स्वामि महिमा अति भरिउ ।।

बड़गच्छीय आचार्य श्री भद्रेश्वर सूरि (सन् १३९१ ई०) द्वारा रचित 'संघपति वीकम सीह रास' में कांगड़ा किले में माता अम्बिका का उल्लेख इस प्रकार किया गया है।

कांगड़इ आदि जिणिंदु संघपति वीकमु पूज करई ।
अम्बिका तणई प्रसादि दुरिय जलहि निय भुय तरहिं।।

माता श्री अम्बिका देवी की एक अन्य दुर्लभ प्रतिमा, जो कि आदिनाथ मन्दिर की बगल वाली दीवार में पुनः स्थापित की गई लगती है, में देवी माँ की गोद में पुत्र को दिखाया गया है। सन् १५२३ ई० में जयानंद कवि द्वारा रचित "सुसर्मपुरीय नृपति वर्णन छंद" में शायद इसी मूर्तिमान माता अम्बिका से कवि ने अपने राजा के लिए आशीर्वाद माँगा है। मूल रचना जो अपभ्रंश में है, का अनुवाद इस तरह है -

"आम्र लुँबधारिणी, गंधर्वों के गीतमान क्रम युक्त, बाईं गोद में पुत्र से अलंकृत, विशद् शृंगार भूषित, सुदृढ़ पराक्रमी सिंहवाहन पर आरूढ अम्बा देवी जिसके दाहिने हाथ से पुत्र संलग्न है, हे नर नाथ! वह देवी आपकी विघ्न बाधाएं क्षय करे।"

वर्तमान में माता श्री अम्बिका देवी का यह पावन पीठ, कांगड़ा किले के अन्दर जैन मन्दिर में भगवान् श्री आदिनाथ की प्रतिमा के बिल्कुल बगल वाले छोटे से कमरे में प्रतिष्ठित है। मातृत्व शक्ति के इस भव्य स्रोत से श्रद्धालु भक्तजनों के विश्वास को युगों-युगों तक शक्ति मिलती रहेगी।



एलोरा की जैन सम्पदा

आनन्द प्रकाश श्रीवास्तव*

राजनीतिक स्थितियाँ सदा से ही कला एवं स्थापत्य के विकास की नियामक रही हैं। शासकों की धार्मिक आस्था एवं उनकी आर्थिक स्थिति के अनुरूप ही मंदिरों, गुफाओं एवं देवमूर्तियों का निर्माण व विकास होता रहा। एलोरा महाराष्ट्र प्रान्त के औरंगाबाद जिले में स्थित है। एलोरा को एक विश्वप्रसिद्ध कला केन्द्र के रूप में विकसित होने की पृष्ठभूमि में शासकीय समर्थन की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। यहाँ वाकाटक, चालुक्य, राष्ट्रकूट एवं देवगिरि के यादवों के संरक्षण में छठी से तेरहवीं शती ई० के मध्य कुल ३४ गुफाएं उत्कीर्ण हुईं।[१] जिनमें राष्ट्रकूटों के समय (सातवीं से दसवीं शती ई०) का निर्माण सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। एलोरा भारतीय संस्कृति, धर्म एवं कला का संगम स्थल रहा है। एलोरा की देवमूर्तियों में धर्म के पारम्परिक एवम् कथात्मक स्वरूप की प्रधानता रही है। सभी प्रमुख भारतीय धर्मों (ब्राह्मण-बौद्ध-जैन) की यह कला-त्रिवेणी बहुत अनोखी है। इनके एक साथ होने से दर्शकों एवं शीघ्र-प्रज्ञों को यहां तुलनात्मक विवेचन का आधार भी मिल जाता है। गुफाएं और मूर्तियां जहां एक ओर अपने में कला एवं स्थापत्य के विकास का लम्बा इतिहास सजोए हैं, वहीं दूसरी ओर शासकों की धर्मसहिष्णु नीति की भी साक्षी हैं। प्रतिमालक्षण की दृष्टि से एलोरा की गुफाओं की देव मूर्तियों का विशेष महत्त्व है।[२]

एलोरा की जैन गुफाओं (गुफा क्रम संख्या ३० से ३४) का निर्माण एवं चित्रांकन दिगम्बर मतावलम्बियों के निरीक्षण से नवीं से तेरहवीं शती ई० के मध्य हुआ है। वास्तुकला के दृष्टिकोण से तलविन्यास के आधार पर ही इनमें अन्तर है। इन्द्रसभा के ऊपरी तल में इन्द्र तथा अम्बिका की भव्य प्रतिमा बरबस आकृष्ट करती है। इसके अतिरिक्त पार्श्वनाथ, बाहुबली, महावीर आदि जैन तीर्थंकरों की प्रतिमाएं उत्कृष्ट हैं। यहाँ का जैनभित्ति चित्र भित्तिचित्रकला के इतिहास में एक अनमोल कड़ी है।[३]

एलोरा के जैन मंदिर इन्द्र सभा में नवीं और दसवीं शती ई० में तीर्थंकर मूर्तियों को बनवाने वाले सोहिल ब्रह्मचारी और नागवर्म्मा का नाम अंकित है।

गुफा संख्या ३० से ३४ तक जैन गुफाओं में गुफा संख्या ३० का स्थानीय नाम छोटा कैलास मंदिर, गुफा संख्या ३२ का इन्द्रसभा एवं गुफा संख्या ३३ का जगन्नाथ सभा है।[४]

---

*पूर्व रिसर्च एसोसिएट, कला इतिहास विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

तत्त्व ग्रहण के आधार पर जैन गुफाएं बौद्ध तथा ब्राह्मण गुफाओं से भिन्न हैं। प्रतिमा तथा प्रतिमा विज्ञान के आधार पर ही इनमें अन्तर देखा जा सकता है। इन्द्रसभा तथा जगन्नाथ सभा दुमंजिली हैं। एलोरा की इन गुफाओं में जैनों के सर्वोच्च आराध्य देव तीर्थंकरों (या जिनों) का अंकन हुआ है। २४ जिनों में से आदिनाथ (प्रथम), शांतिनाथ (१६वें), पार्श्वनाथ (२३वें) एवं महावीर (२४ वें) की सर्वाधिक मूर्तियाँ हैं साथ ही ऋषभदेव के पुत्र बाहुबली गोम्मटेश्वर की भी कई मूर्तियाँ हैं। यहाँ उल्लेखनीय है कि दक्षिण भारत में गोम्मटेश्वर की मूर्तियाँ विशेष लोकप्रिय थीं और एलोरा में उनकी सर्वाधिक मूर्तियां बनीं। २४ तीर्थंकरों का सामूहिक अंकन भी उत्कीर्ण है। जिनों में सात सर्पफणों वाले पार्श्वनाथ की मूर्तियां सर्वाधिक लोकप्रिय थीं। एलोरा की जैन मूर्तियों में छत्र, सिंहासन, प्रभामण्डल जैसे प्रातिहार्यों, लान्छनों एवं शासन देवताओं का अंकन जिनसेन द्वारा रचित आदिपुराण (नवीं शती ई० के मध्य) एवं गुणभद्ररचित उत्तरपुराण (नवीं शती के अंत एवं दसवीं शती के प्रारम्भ) के विवरणों के अनुरूप हुआ है।[५]

इन्द्रसभा एवं जगन्नाथ सभा सर्वाधिक उल्लेखनीय हैं। इन मंदिरों के सहायक अंक आपस में निकटस्थ अनावश्यक अलंकारिक विवरणों से लदे हैं कि इनकी संकुलित जटिलता के प्रदर्शन से दर्शकों के नेत्र थक जाते हैं, उदाहरणार्थ इंद्रसभा के आंगन में ध्वजस्तंभ मंदिर के द्वार और केन्द्रीय मण्डप के इतने पास स्थित हैं कि सम्पूर्ण अंश जबरदस्ती ठूंसा हुआ एवं जटिल दृष्टिगोचर होता है। आंगन के छोटे मापों एवं उसकी ओर उन्मुख कुछ कक्षों के स्तभों के छोटे आकार से उपर्युक्त प्रभाव और भी बढ़ जाता है। यद्यपि ये विलक्षणताएं मंदिर के संयोजन से अनुपात का अभाव प्रकट करती हैं। पर इनके स्थापत्यात्मक विवरण से पर्याप्त उद्यम एवं दक्षता का परिचय मिल जाता है। ऐसे उदाहरणों में कला मात्र कारीगरी रह जाती है, क्योंकि सृजनात्मक प्रयास का स्थान प्रभावोत्पादन की भावशून्य निष्प्राण चेष्टा ले लेती है।[६] इन जैन गुफाओं में चार लक्षण उल्लेखनीय हैं।एक तो इनमें कुछ मंदिरों की योजना मंदिर समूह के रूप में हैं। दूसरी विशेषता स्तंभों में अधिकतर घटपल्लव एवं पर्यंक शैलियों आदि का प्रयोग करके समन्वय का सराहनीय प्रयास किया गया है। तीसरी विशेषता इनमें पूर्ववर्ती बौद्ध एवं ब्राह्मण गुफाओं जैसी विकास की कड़ी नहीं दिखाई देती। जैनियों के एलोरा आगमन के पूर्व सभी बौद्ध एवं ब्राह्मण गुफाएं बन चुकी थीं। अतः साधन, सुविधा एवम् समय के अनुसार इन्होंने कभी बौद्ध एवं कभी ब्राह्मण गुफाओं से प्रेरणा ली। चौथी विशेषता है कि इन गुफाओं में भिक्षुओं के आवास की व्यवस्था नहीं है। इस दृष्टि से ये ब्राह्मण गुफाओं के निकट हैं।

एलोरा की जैन गुफाओं का निर्माण अधिकतर राष्ट्रकूट नृपतियों के राज्यकाल में हुआ है। एलोरा की जैन मूर्तियाँ अधिकतर उन्नत उत्कीर्ण हैं। यहाँ तीर्थकरों,

गोम्मटेश्वर बाहुबली एवं यक्ष तथा यक्षियों की मूर्तियां बनीं।

एलोरा की जैन मूर्तियों में तीर्थंकरों के वक्षस्थल में 'श्रीवत्स' के अंकन की परिपाटी उत्तर भारत के समान प्रचलित नहीं थी। समकालीन पूर्वी चालुक्यों की जैन मूर्तियों में भी यह चिन्ह नहीं मिलता। साथ ही अष्टमहाप्रतिहार्यों में से सभी का अंकन भी यहाँ नहीं हुआ है। केवल त्रिछत्र, अशोकवृक्ष, सिंहासन, प्रभामण्डल, चांवरधारी सेवक एवं मालाधरों का ही नियमित अंकन हुआ है। शासनदेवताओं में कुबेर या सर्वानुभूति यक्ष तथा चक्रेश्वरी, अंबिका एवं सिद्धायिका यक्षियाँ सर्वाधिक लोकप्रिय थीं। जिनों के साथ, यक्ष-यक्षियों का सिंहासन छोरों पर नियमित अंकन हुआ है।[८]

संदर्भ

(१) भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग के पूर्व महानिदेशक श्री जे० पी० जोशी के समाचार पत्रों में प्रकाशित १२ फरवरी १९९०ई० की सूचना के अनुसार एलोरा में २८ और गुफाओं की खोज की गई है। परन्तु १९९३ ई० में एलोरा की यात्रा में मुझे यह ज्ञात हुआ कि वहाँ कुछ अन्य गुफाएं अवश्य हैं, जिनमें सफाई के कार्य चल रहे हैं। अधिकांशतः गुफाओं में महेशमूर्तियां ही हैं। नई दृष्टि से विचारणीय होगा कि एलोरा में महेश सम्प्रदाय तो विकसित नहीं हो रहा था! १९९४ में पुनः यात्रा करने पर मैनें पाया कि एलोरा में ईसापूर्व दूसरी शती से पांचवी सदी ईस्वी तक के दो हजार साल पुराने एक प्राचीन शहर के अवशेष भी हैं।

(२) आनन्दप्रकाश श्रीवास्तव, **एलोरा की ब्राह्मण देव प्रतिमाएँ** -इलाहाबाद १९८८ई०, पृ० २-३; **एलोरा की शैव प्रतिमाएँ**, नई दिल्ली, १९९३, पृ० १-१०.

३. एलोरा गुफाओं के परिचय सूचना पट्ट से उद्धृत।

४. के० आर० श्रीनिवासन, **टेम्पल्स आफ साउथ इडिया**, नई दिल्ली, पृ०६४.

५. कुमुदगिरि, **जैन महापुराण : एक कलापरक अध्ययन**, वाराणसी १९९५ई०, पृ० २५४.

६. जी० याजदानी, **दकन का प्राचीन इतिहास**, दिल्ली १९६६ई०, पृ० ६०३.

७. आनन्दप्रकाश श्रीवास्तव, **एलोरा की ब्राह्मण देव प्रतिमाएं**, पृ० ११.



तपागच्छ
विजयसंविग्न शाखा का इतिहास

शिवप्रसाद*

तपागच्छ से समय-समय पर अस्तित्त्व में आयी विभिन्न शाखाओं में विजय संविग्न शाखा का आज अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। आचार्य विजयदेव सूरि के शिष्य और पट्टधर विजयसिंह सूरि (जिनका अपने गुरु की विद्यमानता में ही निधन हो गया था) के शिष्य सत्यविजय गणि ने गच्छ में व्याप्त शिथिलाचार को दूर करने के लिये क्रियोद्धार कर संविग्नमार्ग प्रशस्त किया। इनकी शिष्य सन्तति विजयसंविग्न शाखा के नाम से जानी गयी। इस शाखा में कपूरविजय गणि, क्षमाविजय गणि, प्रसिद्ध रचनाकर जिनविजय गणि, उत्तमविजय गणि, पद्मविजय गणि, रूपविजय गणि तथा वर्तमान युग में आचार्य आत्मारामजी महाराज अपरनाम विजयानन्द सूरि, शास्त्रविशारद आचार्य विजयधर्म सूरि, इतिहासमहोदधि आचार्य विजयेन्द्र सूरि, अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के लेखक मुनि जयन्तविजय जी, मुनि विद्याविजयजी, मुनि चतुरविजय जी, आगमप्रभाकर मुनि पुण्यविजय जी, आचार्य विजयवल्लभ सूरि जी, आचार्य विजयप्रेम सूरि जी आदि अनेक प्रभावशाली और विद्वान् मुनिजन हो चुके हैं।

विजयसंविग्न शाखा के इतिहास के अध्ययन के लिये उपलब्ध साक्ष्यों में इस शाखा के मुनिजनों द्वारा रचित विभिन्न कृतियों की **प्रशस्तियों**[१] तथा मुख्यरूप से एक **पट्टावली**[२] जो वर्तमान युग में रची गयी प्रतीत होती है, का उल्लेख किया जा सकता है। इस पट्टावली का हिन्दी और गुजराती भाषा में लिखा गया सार प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त **समग्र जैन चातुर्मास सूची** से भी इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सूचना प्राप्त होती है। साम्प्रत आलेख में उक्त सभी साक्ष्यों विशेषकर उक्त पट्टावली के आधार पर तपागच्छ की इस शाखा के इतिहास की एक झलक प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

आचार्य विजयदेव सूरि के प्रशिष्य और विजयसिंह सूरि के शिष्य सत्यविजय गणि ने गच्छ में व्याप्त शिथिलाचार को दूर करने के लिये विजयदेव सूरि की निश्रा में वि० सं० १७११ माघ सुदि १३ गुरुवार को क्रियोद्धार कर संविज्ञमार्ग ग्रहण किया[३]। विजयदेव सूरि के पट्टधर विजयप्रभ सूरि की परम्परा के शिष्यों से अपनी परम्परा के मुनिजनों की अलग पहचान बनाने के लिये इन्होंने उनके लिये पीले वस्त्रों

*प्रवक्ता, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी।

का विधान किया[४]। १७५६ में पाटण में इनका निधन हुआ[५]। खरतरगच्छीय मुनि जिनहर्ष ने इनके ऊपर एक **निर्वाणरास** की रचना की है[६]। इनके पट्टधर कपूरविजय हुए। वि० सं० १७०४ में इनका जन्म हुआ, वि० सं० १७२० में इन्होंने दीक्षा ग्रहण की और वि० सं० १७५७ में अपने गुरु के पट्टधर बने[७]। सुपार्श्वनाथ जिनालय, नाहटों की गवाड़, बीकानेर में संरक्षित चन्द्रप्रभ की प्रतिमा पर उत्कीर्ण वि० सं० १७६८ के एक लेख में प्रतिमाप्रतिष्ठापक के रूप इनका नाम मिलता है। श्री अगरचन्द नाहटा एवं श्री भँवरलाल नाहटा ने इस लेख की वाचना दी है[८], जो निम्नानुसार है:

सं० १७६८ वै० सु० १५ दिने चा: अगर श्रीचन्द्रप्रभ बिंब कारितं तपागच्छे पं० कपूरविजयेन प्र०..............।

कपूरविजय द्वारा रचित कोई कृति नहीं मिलती। वि० सं० १७५५ में पाटण में इनका निधन हुआ। कपूरविजय के एक शिष्य बुद्धिविजय हुए जिनके द्वारा रचित **उपदेशमालाबालावबोध, चौबीसी, जीवविचारस्तवन** आदि कृतियाँ मिलती हैं। कवि सुखसागर द्वारा रचित **पं० श्रीवृद्धिविजयगणिनिर्वाणभास**[१०] से इनके बारे में विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है।

कपूरविजय के पट्टधर उनके द्वितीय शिष्य क्षमाविजय हुए। इनके द्वारा रचित **पार्श्वनाथस्तवन** एवं **शास्वताशास्वतजिनचैत्यवंदन** नामक कृतियाँ प्राप्त होती हैं[११]। वि० सं० १७८५ या १७८६ में अहमदाबाद में इनका स्वर्गवास हुआ[१२]।

क्षमाविजय के पट्टधर जिनविजय गणि हुए। इनका जन्म वि० सं० १७५२ में हुआ था। वि० सं० १७७० में क्षमाविजय से इन्होंने दीक्षा ग्रहण की। वि० सं० १७८६ में ये गुरु के पट्टधर बने और ४७ वर्ष की अल्पायु में वि० सं० १७९९ में पादरा में इनका निधन हो गया[१३]। इनके द्वारा रचित विभिन्न कृतियाँ मिलती हैं[१४], जो निम्नानुसार हैं:

१. **ऋषभस्तवन**
२. **पद्मप्रभस्तुति**
३. **शीतलजिनस्तवन**
४. **सुविधिजिनस्तवन**
५. **विमलजिनस्तवन**
६. **अरजिनस्तवन**
७. **नेमिनाथस्तवन**
८. **पार्श्वजिनवीनती**
९. **पार्श्वजिनस्तवन**

१०. **पार्श्वनाथस्तुति**
११. **शंखेश्वरपार्श्वनाथस्तोत्र**
१२. **महावीरस्तवन**
१३. **शत्रुंजयस्तवन**
१४. **चतुर्विंशतिजिन नमस्कार**
१५. **जिनस्तवन चौबीसी** (रचनाकाल वि० सं० १७८९)
१६. **एकैव तथा द्वितीया स्तुति**
१७. **अष्टमीस्तुति**
१८. **अष्टमीचैत्यवन्दन स्तवन**
१९. **एकादशीचैत्यवन्दन स्तवन**
२०. **कपूरविजयगणिरास** (रचनाकाल वि० सं० १७७९)
२१. **ज्ञानपंचमीस्तवन** (रचनाकाल वि० सं० १७८३)
२२. **क्षमाविजयगणिनिर्वाणमहोत्सवरास** (रचनाकाल वि० सं० १७८६)
२३. **मौन एकादशी सज्झाय** (रचनाकाल वि० सं० १७९५)
२४. **चैत्यवन्दनभाष्यनी स्तुति**
२५. **पर्युषणस्तुति**
२६. **सिद्धचक्रस्तुति**
२७. **अजीवस्वाध्याय**
२८. **जीवभेदसज्झाय**
२९. **द्रुमपत्रीयाध्ययनसज्झाय**
३०. **विहरमानजिनबीसी**
३१. **पंचमहाव्रत भावना सज्झाय**

क्षमाविजय के दूसरे शिष्य जसविजय हुए। इनके द्वारा रचित **जिनस्तवन चौबीसी** नामक कृति प्राप्त होती है[१५]। यह कृति वि० सं० १७८४ में रची गयी है। इनके शिष्य शुभविजय हुए, जिनके द्वारा रचित न तो कोई कृति मिलती है और न ही इस सम्बन्ध में कोई उल्लेख ही मिलता है। शुभविजय के तीन शिष्यों-धीरविजय, भाणविजय और वीरविजय-का उल्लेख मिलता है[१६]। १९वीं शती के उत्तरार्ध के प्रमुख रचनाकार के रूप में वीरविजय की प्रसिद्धि है[१७]। इनके द्वारा रची गयी कृतियां निम्नानुसार हैं:

१. **सुरसुन्दरीरास** - रचनाकाल वि० सं० १८५७
२. **अष्टप्रकारीपूजा** - रचनाकाल वि० सं० १८५८
३. **नेमिनाथविवाहलो** - रचनाकाल वि० सं० १८६०

४. **शुभवेलि** - रचनाकाल वि० सं० १८६०

(इस कृति में रचनाकार ने अपने गुरु शुभविजय का जीवनवृत्तांत वर्णित किया है।)

५. **स्थूलिभद्रजीनी शियलबेल** - रचनाकाल वि० सं० १८६२

६. **दर्शाणभद्रनी सज्झाय** - रचनाकाल वि० सं० १८६३

७. **कुणिकराजगर्भिति वीरस्तवन** - रचनाकाल वि० सं० १८६४

८. **त्रिकचातुर्मास देववंदनविधि** - रचनाकाल वि० सं० १८६५

९. **अक्षयनिधि तप स्तवन** - रचनाकाल वि० सं० १८७१

१०. **चौसठ प्रकारीपूजा** - रचनाकाल वि० सं० १८७४

११. **पिस्तालीसआगमगर्भित अष्टप्रकारीपूजा** - वि० सं० १८८१

१२. **नवाणुंप्रकारी पूजा** - रचनाकाल वि० सं० १८८४

१३. **बारव्रतनीपूजा** - रचनाकाल वि० सं० १८८७

१४. **भायखला (मुंबापुरीस्य) ऋषभचैत्यस्तवन** - रचनाकाल वि० सं० १८८८

१५. **पंचकल्याणकपूजा** - रचनाकाल वि० सं० १८८९

१६. **अंजनशलाकास्तवन** - रचनाकाल वि० सं० १८९३

(अपरनाम **मोतीशानां ढालियां**)

१७. **धम्मिलकुमाररास** - रचनाकाल वि० सं० १८९६

१८. **हिताशिखामणस्वाध्याय** - रचनाकाल वि० सं० १८९८

१९. **चन्द्रशेखररास** - रचनाकाल वि० सं० १९०२

२०. **हठीसिंहनी अंजनशलाकाना ढालियां**-रचनाकाल वि० सं० १९०३

२१. **सिद्धाचल गिरनारस्तवन** - रचनाकाल वि० सं० १९०५

२२. **संघवण हरकुंवरसिद्धक्षेत्रस्तवन**- रचनाकाल वि० सं० १९०८

२३. **नेमिनाथराजीमतीरास**

२४. **हितशिक्षाछत्रीसी**

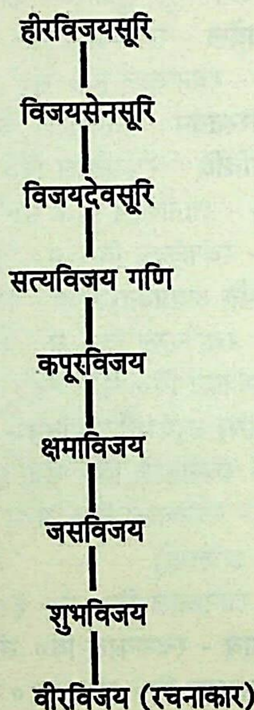
२५. **छप्पनदिक्कुमारीरास**

२६. **प्रश्नोत्तरचिन्तामणि**

इसके अलावा इनके द्वारा रचित छोटी-बड़ी ८३ स्तवनों, सज्झायों, गहुंलियों आदि का भी उल्लेख मिलता है[१८]। वि० सं० १९०९ माघ सुदि६ सोमवार को इनका निधन हुआ। इनके शिष्य रंगविजय हुए, जिन्होंने वि० सं० १९११ चैत्र सुदि १५ सोमवार को **श्रीवीरविजयनिर्वाणरास** की रचना की। यह कृति मुनिजिनविजयजी द्वारा संपादित **जैनऐतिहासिकगूर्जरकाव्यसंचय** के पृष्ठ ८६-१०५ पर प्रकाशित है। इसी ग्रन्थ के पृष्ठ ३६-४२ पर उन्होंने उक्त रास का सार भी प्रकाशित किया है।

वीरविजय ने अपनी विभिन्न कृतियों में अपनी लम्बी गुरु-परम्परा दी है।

सुरसन्दरीरास[19] की प्रशस्ति में उन्होंने जो गुर्वावली दी है, वह इस प्रकार है -



जिनविजय गणि के निधन के पश्चात् उनके शिष्य उत्तमविजय पट्टधर बने। इनका जन्म वि० सं० १७६० में हुआ था, वि० सं० १७७८ में खरतरगच्छीय देवचन्द्र गणि के पास इन्होंने विद्याध्ययन किया और वि० सं० १७९६ में जिनविजय गणि से दीक्षा ग्रहण की। वि० सं० १७९९ में गुरु के निधन के पश्चात् उनके पट्टधर बने और वि० सं० १८२७ में अहमदाबाद में इनकी मृत्यु हुई[20]। इनके द्वारा रचित विभिन्न कृतियां मिलती हैं, जो इस प्रकार हैं-

१. **जिनविजयनिर्वाणरास** (रचनाकाल वि० सं० १७९९)
२. **संयमश्रेणीगर्भित महावीरस्तवन** (रचनकाल वि० सं० १७९९)
३. **महावीरस्तवन** (रचनाकाल वि० सं० १८०९)
४. **अष्टप्रकारी पूजा** (रचनाकाल वि० सं० १८१३-१९)
५. **शत्रुंजयतीर्थस्तवन** (वि० सं० १८२७)
६. **श्राद्धविधिवृत्तिबालावबोध** (वि० सं० १८२४)

उत्तमविजय गणि के निधन के पश्चात् इनके शिष्य पद्मविजय गणि पट्टधर बने। वि० सं० १७९२ में इनका जन्म हुआ था, वि० सं० १८०५ में इन्होंने दीक्षा

ग्रहण की। वि० सं० १८१० में इन्हें पंडित पद प्राप्त हुआ और वि० सं०१८६२ में अहमदाबाद में इनका निधन हुआ। इन्होंने बड़ोदरा राज्य में वहां के शासक से अमारि पालन हेतु आज्ञापत्र जारी कराया था। इनके द्वारा रचित विभिन्न कृतियां मिलती हैं[२१], जो इस प्रकार हैं:

१. सिद्धदंडिकास्तवन (वि० सं० १८१४)
२. चौबीसजिनकल्याणकस्तवन (वि० सं० १८३६)
३. समरादित्यकेवलीरास (वि० सं० १८४२)
४. नेमिराजीमतीस्तवन (वि० सं० १८३६)
५. गौतमकुलकबालवबोध (वि० सं० १८४६)
६. जयानन्दकेवलीचरित (वि० सं० १८५८)
७. मदनधनदेवरास (वि० सं० १८५५)
८. महावीरस्तवन
९. वीरजिनस्तुतिगर्भितचौबीसदण्डकस्तवन
१०. नेमिनाथरास
११. उत्तमविजयरास
१२. पार्श्वप्रभुस्तुति
१३. ऋषभजिनस्तवन
१४. वीरजिनस्तवन

पद्मविजय गणि के पश्चात् उनके शिष्य रूपविजय गणि उनके पट्टधर बने। इनके वैयक्तिक जीवन के बारे में कोई जानकारी नहीं मिलती। इनके द्वारा रचित कुछ कृतियां प्राप्त हुई हैं[२२], जो इस प्रकार हैं:

१. पद्मविजयनिर्वाणरास (वि० सं० १८६२)
२. अंबडरास (वि० सं० १८८०)
३. पृथ्वीचन्द्रचरित्र (वि० सं० १८८२)
४. विमलमंत्रीरास (वि० सं० १९००)
५. स्नात्रपूजा
६. पंचकल्याणकपूजा
७. पंचज्ञानपूजा
८. वीरस्थानकपूजा
९. आत्मबोधसज्झाय
१०. मनःस्थरीकरणसज्झाय
११. नन्दीश्वरद्वीपपूजा

१२. पैंतालिसआगमपूजा
१३. गुणसेनकेवलीरास
१४. ध्यानगीता
१५. अष्टप्रवचनमातासज्झाय
१६. समवशरणस्तवनप्रकरणस्तवक
१७. आणविकमुनिवरस्वाध्याय
१८. जम्बूकुमारसज्झाय
१९. नंदिसेणसज्झाय
२०. रहनेमिराजीमतीसज्झाय
२१. शालिभद्रस्वाध्याय

वि० सं० १९१० में रूपविजय गणि के निधन के पश्चात् कीर्तिविजय उनके पट्टधर हुए। ४५ वर्ष की आयु में इन्होंने दीक्षा ग्रहण की। इन्होंने मारवाड़, मेवाड़ तथा गुजरात के विभिन्न भागों में विहार कर धर्मप्रभावना की। त्रिपुटी महाराज ने इनके १५ शिष्यों का उल्लेख किया है[२४]। इनके द्वारा रचित कोई कृति नहीं मिलती।

कीर्तिविजय के निधन के पश्चात् कस्तूरविजय गणि ने विजयसंविग्न शाखा का नायकत्व ग्रहण किया। इनके बारे में कोई विशेष-जानकारी नहीं मिलती। त्रिपुटी महाराज के अनुसार वि० सं० १८७० में इन्होंने दीक्षा ग्रहण की और बड़ौदा में स्वंर्गवासी हुए[२५]। कस्तूरविजय गणि त्यागी प्रवृत्ति के मुनि थे। इनकी आरस (संगमरमर) की एक प्रतिमा कोठारी पोल, बडोदरा स्थित पार्श्वनाथ जिनालय में है। दूसरी प्रतिमा लुहार की पोल अहमदाबाद में प्रतिष्ठापित[२६] है।

कस्तूरविजय के पट्टधर मणिविजय हुए । वि० सं० १८५२ में इनका जन्म हुआ था। वि० सं० १८७७ में इन्होंने कीर्तिविजय गणि के पास पाली में दीक्षा ग्रहण की। वि० सं० १८९२ में सौभाग्यविजय गणि ने इन्हें पंन्यास पद प्रदान किया। इनका शिष्य परिवार विशाल था। इनकी ख्याति अपने शिष्य परिवार में दादा के रूप में थी। दीक्षा के पश्चात् आजीवन इन्होंने दिन में एक समय आहार लिया। ये उग्रविहारी भी थे । इन्होंने कच्छ, गुजरात, काठियावाड़, मेवाड़, शत्रुंजय, गिरनार, सम्मेतशिखर आदि की यात्रा की। इन्होंने कुछ मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया और जिनप्रतिमाओं की प्रतिष्ठा भी की। वि० सं० १९३५ में अहमदाबाद में इनका निधन हुआ। इनके शिष्यों के रूप में मुनि अमृतविजय, पद्मविजय, बुद्धिविजय, गुलाबविजय, हीरविजय, शुभविजय, सिद्धिविजय आदि का नाम मिलता है[२७]।

इनमें से बुद्धिविजय जी अपरनाम बूटेराय जी और उनके गुरुभ्राता

सिद्धिविजय जी की शिष्य सन्तति आगे चली। सिद्धिविजय जी की परम्परा के वर्तमान आचार्य श्रीमद्भद्रंकर विजय जी हैं। इनकी निश्रा में कुल साधु-साध्वियों की संख्या ४११ है[२८]।

बुद्धिविजयजी के एक अन्य गुरुभ्राता पद्मविजय, जिनका ऊपर उल्लेख आ चुका है, के शिष्य प्रेमविजय और प्रेमविजय के शिष्य एवं पट्टधर जितविजय जी हुए[२९]। इनके बारे में कोई विशेष विवरण नहीं मिलता। जितविजय जी की शिष्य सन्तति में आगे चलकर कौन-कौन से मुनिजन हुए। इनकी परम्परा आगे चली अथवा नहीं! इस बारे में साक्ष्यों के अभाव में कुछ भी कह पाना कठिन है।

बुद्धिविजय जी अपरनाम बूटेराय जी की विशाल शिष्यसन्तति में तीन नाम उल्लेखनीय हैं, ये हैं- मुक्तिविजय जी, वृद्धिविजय जी और आत्माराम जी अपरनाम विजयानंद सूरि जी। इन तीनों मुनिजनों की शिष्य सन्तति आज भी विद्यमान है।

मुक्तिविजय जी का जन्म वि० सं० १८८६ में हुआ था, वि० सं० १९०२ में इन्होंने स्थानकवासी सम्प्रदाय में दीक्षा ली। वि० सं० १९१२ में अहमदाबाद में इन्होंने मणिविजय जी (दादा) के पास संवेगी शिक्षा ग्रहण की। ये बहुत अनुशासन प्रिय थे। इनके समय में अनेक साधु-साध्वियों की दीक्षायें हुई और सम्प्रदाय का विस्तार हुआ। वि० सं० १९४५ मार्गशीर्ष वदि ६ को भावनगर में इनका निधन हुआ[३०]।

मुक्तिविजय जी के पट्टधर विजयकमल सूरि हुए। वि० सं० १९१३ में इनका जन्म हुआ। वि० सं० १९३६ में वृद्धिचन्द जी के पास इन्होंने दीक्षा ग्रहण की और मुक्तिविजय जी के शिष्य घोषित किये गये। वि० सं० १९४७ में इन्हें पंन्यास पद और वि० सं० १९७३ में अहमदाबाद में आचार्य पद प्राप्त हुआ। वि० सं० १९७४ आश्विन सुदि १० को सूरत में ये स्वर्गवासी हुए[३१]।

विजयकमल सूरि के पट्टधर विजयकेसर सूरि हुए। वि० सं० १९३३ में पालिताना में इनका जन्म हुआ था, वि० सं० १९५० में बड़ोदरा में विजयकमल सूरि के पास इन्होंने दीक्षा ग्रहण की। वि० सं० १९६३ में गणि पद और वि० सं० १९८३ में आचार्य पद प्राप्त किया। वि० सं० १९८६ में अहमदाबाद में इनकी मृत्यु हुई। ये योगविद्या के अभ्यासी थे। इनके द्वारा रची गयी कुछ कृतियां भी मिलती हैं[३२]।

विजयकमल सूरि के एक शिष्य विनयविजय हुए। पालिताना स्थित गुरुकुल के स्थापक चारित्रविजय जी इन्हीं के शिष्य थे। चारित्रविजय जी के दो शिष्य दर्शनविजय जी और ज्ञानविजय जी हुए। दर्शनविजय जी के शिष्य न्यायविजय जी हुए। ये तीनों त्रिपुटी महाराज के नाम से विख्यात हुए[३३]। इनके द्वारा लिखी गयी कृतियों में **जैनतीर्थोनो इतिहास, जैन परम्परानो इतिहास** भाग १-४ आदि उल्लेखनीय हैं।

विजयकमल सूरि के एक अन्य शिष्य विजयमोहन सूरि हुए। विजयमोहन

सूरि के शिष्य विजयप्रताप सूरि और विजयप्रताप सूरि के शिष्य विजयधर्म सूरि प्रभावक जैनाचार्य थे। प्रसिद्ध कलामर्मज्ञ विजययशोदेव सूरि इन्हीं के शिष्य और वर्तमान में अपने समुदाय के गच्छनायक हैं। इनकी निश्रा में आज २२४ साधु-साध्वी हैं जो पश्चिमी भारत के विभिन्न क्षेत्रों में विचरण कर रहे हैं[३४]।

द्रष्टव्य : तालिका - १

बूटेराय जी अपरनाम बुद्धिविजय जी के दूसरे प्रमुख शिष्य वृद्धिचन्द्र जी अपरनाम वृद्धिविजय जी, जिनका ऊपर उल्लेख आ चुका है, का जन्म वि० सं० १८९० में पंजाब प्रान्त में हुआ था। वि० सं० १९१२ में इन्होंने संवेगीदीक्षा ग्रहण की और वि० सं० १९४९ में भावनगर में इनका देहान्त हुआ[३५]। इनके दो शिष्यों विजयधर्मसूरि और विजयनेमिसूरि-जो अत्यन्त प्रभावक आचार्य थे, के बारे में विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है।

आचार्य विजयधर्मसूरि २०वीं शती के प्रभावक जैनाचार्यों में से एक थे। इनके द्वारा रचित विभिन्न महत्त्वपूर्ण कृतियां प्राप्त होती हैं[३६]। इनके २४ शिष्यों[३७] का उल्लेख मिलता है, जिनके नाम निम्नानुसार हैं -

१. आचार्य विजयेन्द्र सूरि	१३. अकलंकविजय जी
२. उपाध्याय मंगलविजय जी	१४. जयन्तविजय जी
३. पंन्यास भक्तिविजय जी	१५. देवेन्द्रविजय जी
४. रत्नविजय जी	१६. विशालविजय जी
५. अमरविजय जी	१७. निधानविजय जी
६. चन्द्रविजय जी	१८. कंचनविजय जी
७. सिंहविजय जी	१९. धरणेन्द्रविजय जी
८. गुणविजय जी	२०. चमरेन्द्रविजय जी
९. विद्याविजय जी	२१. हिमांशुविजय जी
१०. महेन्द्रविजय जी	२२. भुवनविजय जी
११. न्यायविजय जी	२३. अमृतविजय जी
१२. मृगेन्द्रविजय जी	२४. पूर्णानन्दविजय जी

काशी को अपना केन्द्र बनाकर इन्होंने बंगाल और बिहार के अनेक स्थानों की यात्रा की। इनके उदार एवं धर्मभावपूर्ण व्याख्यान से न केवल जैन बल्कि जैनेतर भी बड़ी संख्या में इनके प्रसंशक बन गये। इनके द्वारा स्थापित यशोविजय जैन पाठशाला से अनेक विद्वान् तैयार हुए और यशोविजय जैन ग्रन्थमाला से अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुए जिनकी यूरोपीय विद्वानों ने भी बड़ी प्रसंशा की है। वि० सं० १९६४ में इन्हें काशीनरेश महाराज श्री प्रभुनारायण सिंह द्वारा **शास्त्रविशारद**

जैनाचार्य की उपाधि प्रदान की गयी[३८]। वि० सं० १९७८ में ग्वालियर के निकट शिवपुरी में इनका निधन हुआ।

विजयधर्म सूरि के शिष्य मुनिराज विद्याविजय जी द्वारा सम्पादित **प्राचीनलेखसंग्रह, सूरीश्वर अने सम्राट, ऐतिहासिकरासंग्रह** (भाग ४) और **ऐतिहासिकसज्झायमाला** नामक ग्रन्थ अत्यन्त प्रामाणिक हैं।

शान्तिमूर्ति मुनिराज जयन्तविजय जी ने विभिन्न तीर्थों पर प्रामाणिक ग्रन्थों की रचना की है। उनके द्वारा लिखित और सम्पादित विभिन्न कृतियां मिलती हैं। आबू और उसके आस-पास स्थित विभिन्न जैन तीर्थों का उन्होंने विस्तृत इतिहास लिखा है जो ५ भागों में प्रकाशित है। इनका विवरण इस प्रकार है:

१. **आबू**
२. **अर्बुदप्राचीनजैनलेखसंदोह**
३. **अचलगढ़**
४. **अर्बुदाचलप्रदक्षिणा**
५. **अर्बुदाचलप्रदक्षिणाजैनलेखसंदोह**

इनके आज्ञानुवर्ती विशालविजय जी द्वारा संपादित **राधनपुरप्रतिमालेखसंग्रह, कुम्भारिया** अपरनाम **आरासणातीर्थ** आदि विशेष प्रसिद्ध हैं।

श्वे० जैनधर्म के विभिन्न गच्छों, ज्ञातियों तथा तीर्थों के इतिहास के अध्ययन की दृष्टि से उक्त सभी कृतियाँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं प्रामाणिक हैं।

बुद्धिविजय जी के दूसरे शिष्य विजयनेमि सूरि की परम्परा के मुनिजनों का नेतृत्व आज आचार्य विजयदेवसूरि जी कर रहे हैं जिनकी निश्रा में विचरण कर रहे साधु-साध्वियों की कुल संख्या ६०१ है[४०]।

द्रष्टव्यः तालिका क्रमांक- २

बुद्धिविजय जी के तीसरे प्रसिद्ध शिष्य आत्माराम जी अपरनाम विजयानन्द सूरि जी हुए। १९वीं -२०वीं शताब्दी में जैन धर्म के उन्नायकों में इनका स्थान सर्वोपरि है। १९वीं शताब्दी के मध्य में जहाँ पंजाब प्रान्त में मूर्तिपूजक जैन समाज का कोई नाम भी लेने वाला न बचा था, वहीं उन्होंने अपने उद्योग से अनेक स्थानों पर जिनालयों का निर्माण कराया और वहाँ मूर्तिपूजक समुदाय का प्रभुत्व स्थापित कराया[४१]। इनके द्वारा अनेक विद्यालयों का भी स्थान-स्थान पर निर्माण कराया जाना इनके शिक्षा-प्रेम को प्रकट करता है। इनके द्वारा रचित विभिन्न कृतियाँ प्राप्त होती हैं[४२]। शिकागो के विश्वधर्म सम्मेलन में जैन धर्म के प्रतिनिधि के रूप में इन्होंने ही श्री वीरचन्द राघव जी गांधी को भेजा था। इनके विशाल शिष्य परिवार के एक मुनि कांतिविजय जी के शिष्य चतुरविजय जी तथा प्रशिष्य आगमप्रभाकर मुनिराज पुण्यविजय

जी महाराज हुए। इन सभी के द्वारा २०वीं शताब्दी में की गयी जैन साहित्य की सेवा से पूरा देश गौरवान्वित है। आत्माराम जी अपरनाम विजयानन्द सूरि के पट्टधर स्वनामधन्य आचार्य विजयवल्लभ सूरि हुए[४३]। मानव सेवा तथा शिक्षा प्रसार के जिस कार्य को विजयानन्द सूरि जी ने प्रारम्भ किया था उसे आगे बढ़ाने में विजयवल्लभ सूरि का महान् योगदान है। इनके पट्टधर विजयसमुद्र सूरि हुए। वर्तमान में इस समुदाय का नेतृत्व आचार्य विजयइन्द्रदिन्न सूरीश्वर जी महाराज कर रहे हैं जिनकी निश्रा में २६५साधु-साध्वी हैं[४४]।

आत्माराम जी महाराज के एक अन्य शिष्य उपा० वीरविजय हुए । इनके बारे में विशेष विवरण नहीं मिलता। इनके पट्टधर विजयदान सूरि और विजयदान सूरि के पट्टधर विजयप्रेम सूरि हुए[४५]। विजयप्रेम सूरि के दो शिष्यों विजयरामचन्द्र सूरि और विजयभुवनभानुचन्द्र सूरि से दो अलग-अलग शिष्य परम्परायें चलीं जिनका नेतृत्व क्रमशः विजयमहोदय सूरि जी म० और विजयजयघोष सूरि जी म० कर रहे हैं।

विजयमहोदय सूरि की निश्रा में कुल ९५५ साधु साध्वी हैं जो संख्या की दृष्टि से अन्य समुदायों की तुलना में सर्वाधिक है[४६]। विजयजयघोष सूरि की निश्रा में रहने वाले साधु-साध्वियों की संख्या ४६० है[४७]। ये सभी गुजरात, महाराष्ट्र और राजस्थान के विभिन्न भागों में मुख्यतया विचरण कर धर्मप्रभावना के कार्य में रत हैं।

द्रष्टव्यः तालिका क्रमांक-३

उक्त तीनों तालिकाओं के समायोजन से विजयसंविग्न शाखा के मुनिजनों के गुरु-परम्परा की एक विस्तृत तालिका का पुनर्गठन किया जा सकता है, जो इस प्रकार है-

तालिकाः तालिका क्रमांक - ४

विजयसंविग्न शाखा में आज छोटी-बड़ी विभिन्न उपशाखायें विद्यमान हैं और इन सभी का नामकरण उपशाखा के प्रवर्तक आचार्यों के नामों के आधार पर ही हुआ है। जैसे विजयानन्द सूरि जी की परम्परा में हुए विजयप्रेम सूरि जी के नाम पर उनका शिष्य समुदाय विजयप्रेम सूरि जी का समुदाय, इसी परम्परा में हुए विजयवल्लभ सूरि जी की शिष्य परम्परा उन्हीं के नाम पर विजयवल्लभ सूरि जी का समुदाय कहा जाता है। ये सभी समुदाय अपने आप में पूर्ण रूपेण स्वतंत्र हैं और इनके अपने-अपने अलग-अलग गच्छनायक आचार्य हैं जिनकी आज्ञा में उस समुदाय के अन्य आचार्य, गणि, उपाध्याय, प्रवर्तक आदि रहते हैं। वर्तमान समय में भी इस गच्छ में विभिन्न प्रभावशाली और विश्वविश्रुत विद्वान् हैं जो जैन धर्म को जीवन्त एवं समुन्नत बनाये रखने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दे रहे हैं।

संदर्भ

१. Vidhatri Vora, Ed-*Catalogue of Gujarati Mss: Muni Shree PunyaVijayaJis Collection.* L.D. Siries No. 71, Ahmedabad 1978. A. D.
मोहनलाल दलीचन्द देसाई, **जैनगूर्जरकविओ**, भाग ५-६, द्वितीय संशोधित संस्करण, संपा०- डॉ० जयन्त कोठारी, मुम्बई १९८८-८९ ई०.
उक्त दोनों ग्रन्थों के विभिन्न स्थलों पर इस शाखा के मुनिजनों और उनकी कृतियों का भी विवरण दिया गया है।

२. देसाई, पूर्वोक्त, भाग९, द्वितीय संशोधित संस्करण, संपा०, जयन्त कोठारी, मुम्बई १९९७ ई०, पृष्ठ १०८-११३.
कल्याणविजय गणि, **पट्टावलीपरागसंग्रह**, जालौर १९६६ ई०, पृष्ठ २२८-२९

३. देसाई, पूर्वोक्त, भाग ९, पृष्ठ १०८.
त्रिपुटी महाराज, **जैन परम्परानो इतिहास**, भाग ४, भावनगर १९८३ ई०,पृष्ठ ३६७.

४. वही, पृष्ठ ३६८.

५-६-७. देसाई, पूर्वोक्त, भाग ९, पृष्ठ १०८.

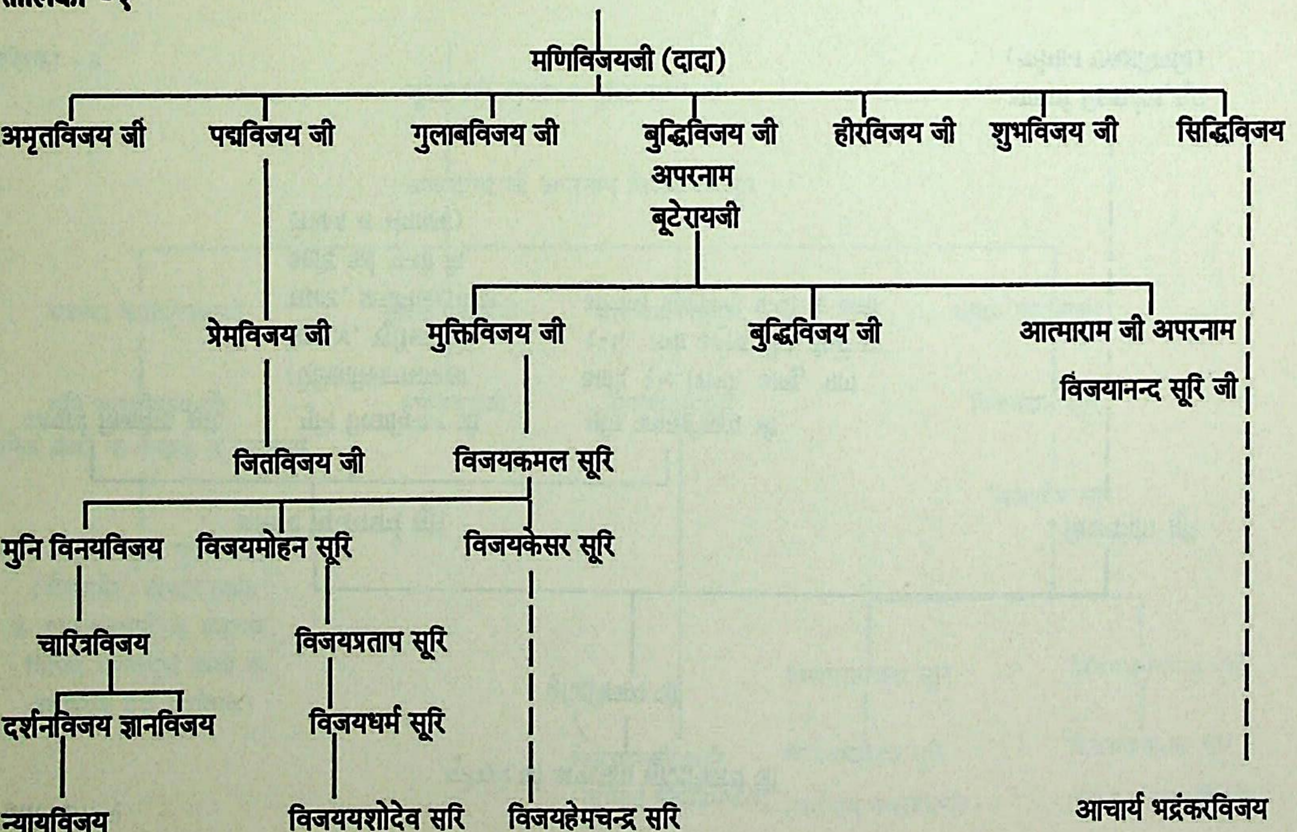
८. अगरचन्द भँवरलाल नाहटा, संपा०, **बीकानेरजैनलेखसंग्रह**, कलकत्ता १९५५ ई०, लेखांक १७७०.

९. त्रिपुटी महाराज, पूर्वोक्त, भाग४, पृष्ठ ३७५.
देसाई, पूर्वोक्त, भाग ५, पृष्ठ २७६-७७.

१०. विजयधर्म सूरि, संपा०-**ऐतिहासिकराससंग्रह**, भाग३, भावनगर वि० सं० १९७८, पृ० ४९-५६, संक्षिप्तसार, पृष्ठ ३६-४३.
त्रिपुटी महाराज तथा कुछ अन्य विद्वानों ने इसी शाखा में हुए वृद्धिविजय नामक एक अन्य रचनाकार का भी उल्लेख किया है और इन्हें कपूरविजय का शिष्य बताया है। सत्यविजय गणि के शिष्य वृद्धिविजय तथा उनके शिष्य एवं पट्टधर कपूरविजय के शिष्य वृद्धिविजय वस्तुतः एक ही व्यक्ति थे। सत्यविजय गणि ने वृद्धिविजय को दीक्षा देकर कपूरविजय का शिष्य घोषित किया था, इसीलिए वृद्धिविजय ने अपनी रचनाओं में कहीं स्वयं को सत्यविजय गणि का और कहीं कपूरविजय का शिष्य कहा है। इसीलिए उक्त भ्रम उत्पन्न हुआ है।
त्रिपुटी महाराज, पूर्वोक्त, भाग ४, पृष्ठ ३७४-७५.
शीतिकंठ मिश्र, **हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास-मरु-गूर्जर**, भाग-३, पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक ९१, वाराणसी १९९७ ई० स०, पृष्ठ ५१८-५१९.

११. त्रिपुटी महाराज, पूर्वोक्त, भाग ४, पृष्ठ ३७८.
१२-१३. देसाई, पूर्वोक्त, भाग ९, पृष्ठ १०८.
१४. देसाई, पूर्वोक्त, भाग ५, पृष्ठ ३०४-३०८.
Vora, Ibid, P. 171-75, 375, 617, 707.
१५. त्रिपुटी महाराज, पूर्वोक्त, भाग ४, पृष्ठ ३७९.
१६. वही, पृष्ठ ३७९.
१७-१८. देसाई, पूर्वोक्त, भाग ६, पृष्ठ २२२-२५६.
१९. वही, पृष्ठ- २२४-२२५.
२०. वही, भाग ६, पृष्ठ २-७.
Vora, Ibid, P. 46, 136, 536, 818, 824.
२१. देसाई, पूर्वोक्त, भाग ६, पृष्ठ ४-७-६२.
Vora, Ibid, P. 217-221, 636.
२२-२३. देसाई, पूर्वोक्त, भाग ४, पृष्ठ १०९.
२४. त्रिपुटी महाराज, पूर्वोक्त, भाग४, पृष्ठ ४२२.
२५. वही, पृष्ठ-४२४.
२६. वही, पृष्ठ ४२४.
देसाई, पूर्वोक्त, भाग ९, पृष्ठ १०९-११०.
२७. त्रिपुटी महाराज, पूर्वोक्त, भाग४, पृष्ठ २२५-२२८.
देसाई, पूर्वोक्त, भाग-९, पृष्ठ ११०.
२८. बाबूलाल जैन, 'उज्जवल', संपा०-**समग्र जैन चातुर्मास सूची, वर्ष १९९७ ई०**, पृष्ठ १०१.
२९. त्रिपुटी महाराज, पूर्वोक्त, भाग४, पृष्ठ ४२७.
३०-३२. देसाई, पूर्वोक्त, भाग९, पृष्ठ ११०-१११.
३३. वही, पृष्ठ १११.
३४. बाबूलाल जैन 'उज्जवल', पूर्वोक्त, पृष्ठ- ७५.
३५. देसाई, पूर्वोक्त, भाग ९, पृष्ठ १११.
३६-३७. रघुनाथ प्रसाद सिंघानिया, **विजयधर्मसूरि जीवन रेखा**, यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, भावनगर १९४० ई०, परिशिष्ट, पृष्ठ ४-६.
३८. वही, पृष्ठ २९-३१.
३९. वही, पृष्ठ ५३-५४.
४०. बाबूलाल जैन 'उज्जवल', पूर्वोक्त, पृष्ठ २५-३२.
४१-४३. मुनि नवीनचन्द्रविजय तथा अन्य, संपा०- **विजयानन्दसूरि स्वर्गारोहण शताब्दी स्मृतिग्रन्थ**, पावागढ़, पंचमहाल १९९६ ई०, हिन्दी खण्ड के विभिन्न लेख.
४४. बाबूलाल जैन 'उज्जवल', पूर्वोक्त, पृष्ठ ५१-५७.
४५-४६. वही, पृष्ठ १-१३.
४७. वही, पृष्ठ १५-२३.

तालिका - १


मणिविजयजी (दादा)
अमृतविजय जीं
पद्मविजय जी
गुलाबविजय जी
बुद्धिविजय जी अपरनाम बूटेरायजी
हीरविजय जी
शुभविजय जी
सिद्धिविजय
प्रेमविजय जी
मुक्तिविजय जी
बुद्धिविजय जी
आत्माराम जी अपरनाम विजयानन्द सूरि जी
जितविजय जी
विजयकमल सूरि
मुनि विनयविजय
विजयमोहन सूरि
विजयकेसर सूरि
चारित्रविजय
विजयप्रताप सूरि
दर्शनविजय
ज्ञानविजय
विजयधर्म सूरि
न्यायविजय
विजययशोदेव सरि
विजयहेमचन्द्र सरि
आचार्य भद्रंकरविजय

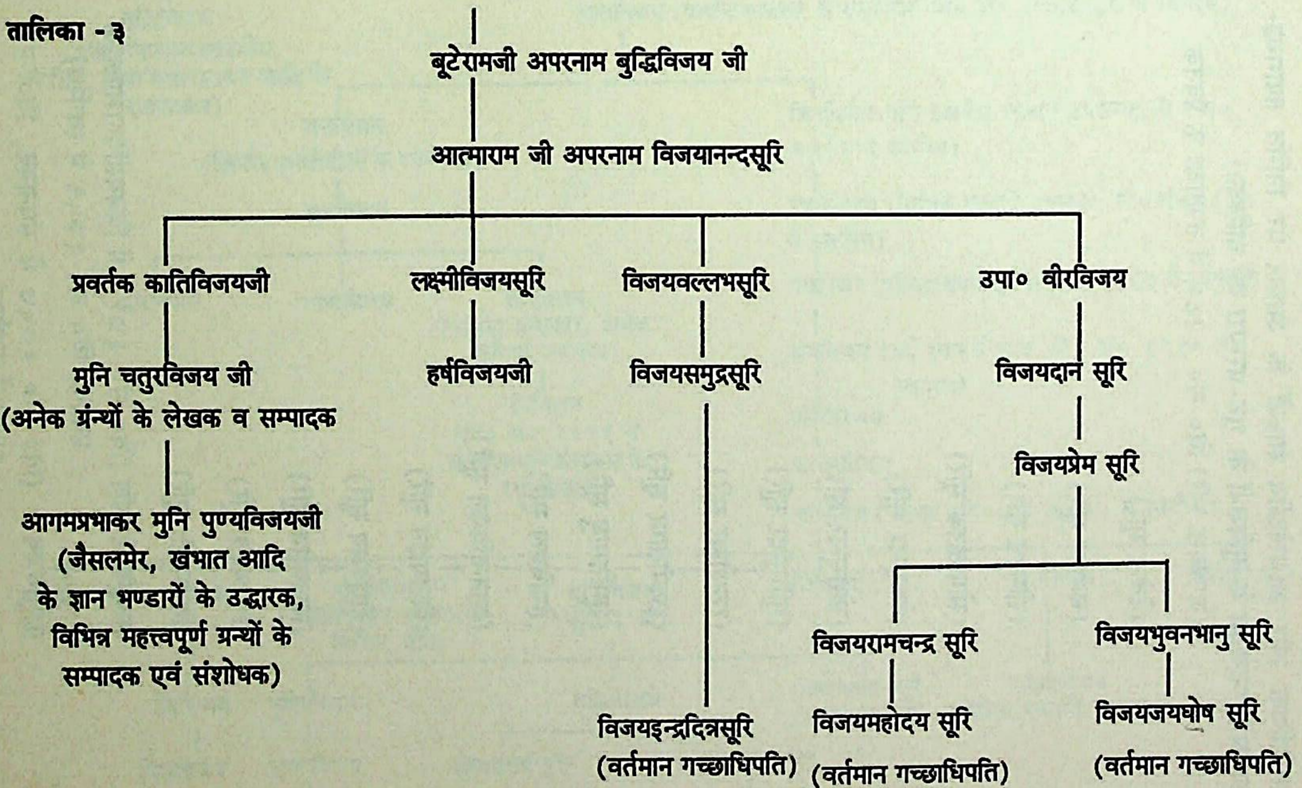
तालिका- २

बूटेराय जी अपरनाम बुद्धिविजय जी

वृद्धिविजय जी

- आचार्य विजयधर्म सूरि
  - आचार्य विजयेन्द्र सूरि
  - मुनि विद्याविजय जी (ऐतिहासिकरासमाला, भाग ४, सूरीश्वरअने सम्राट, प्राचीनलेखसंग्रह आदि कई ग्रन्थों के लेखक व संपादक)
  - मुनि जयन्तविजय जी आदि २४ शिष्य, आबू, भाग १-५, तथा अनेक जैन तीर्थों पर अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थों के कर्ता
- विजयनेमि सूरि
  - ¦ आचार्य विजयदेव सूरि (वर्तमान गच्छाधिपति)

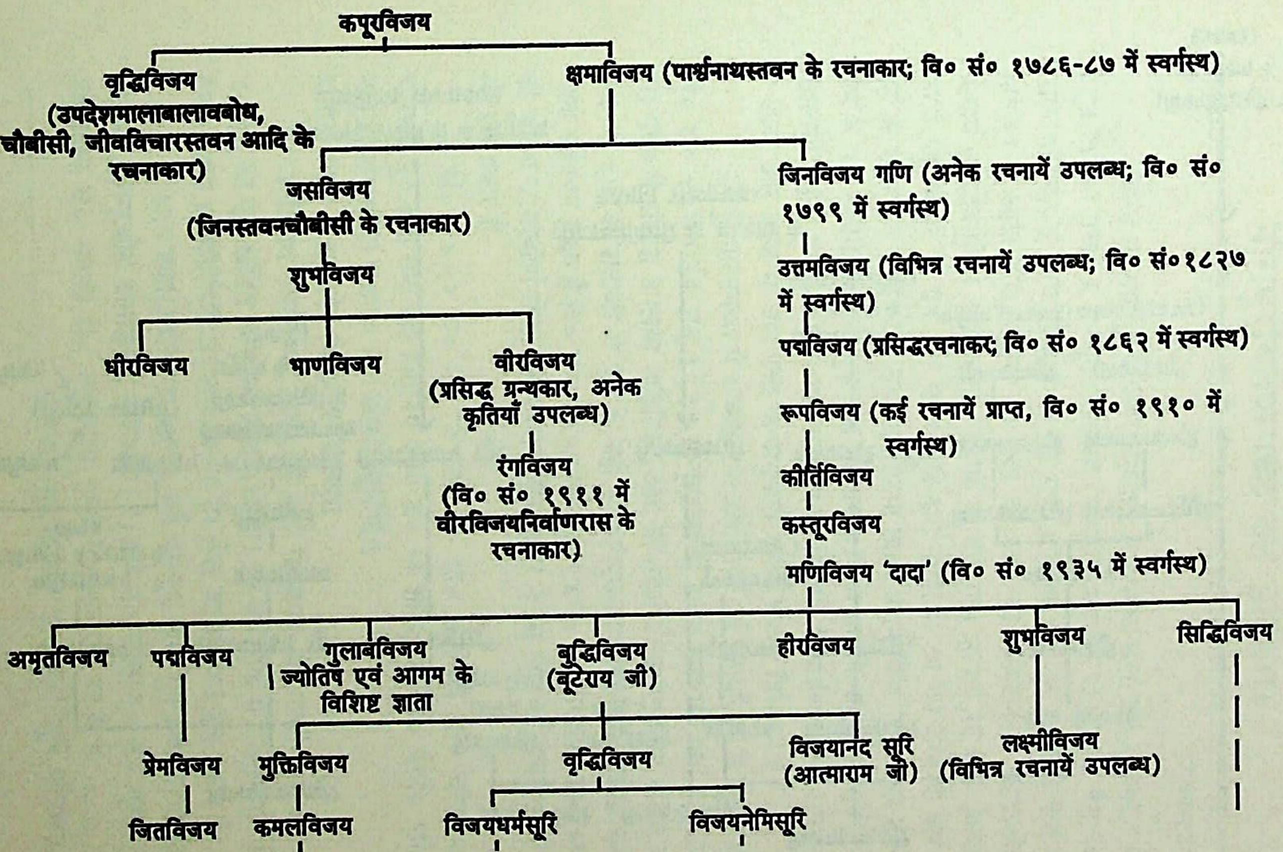
तालिका - ३

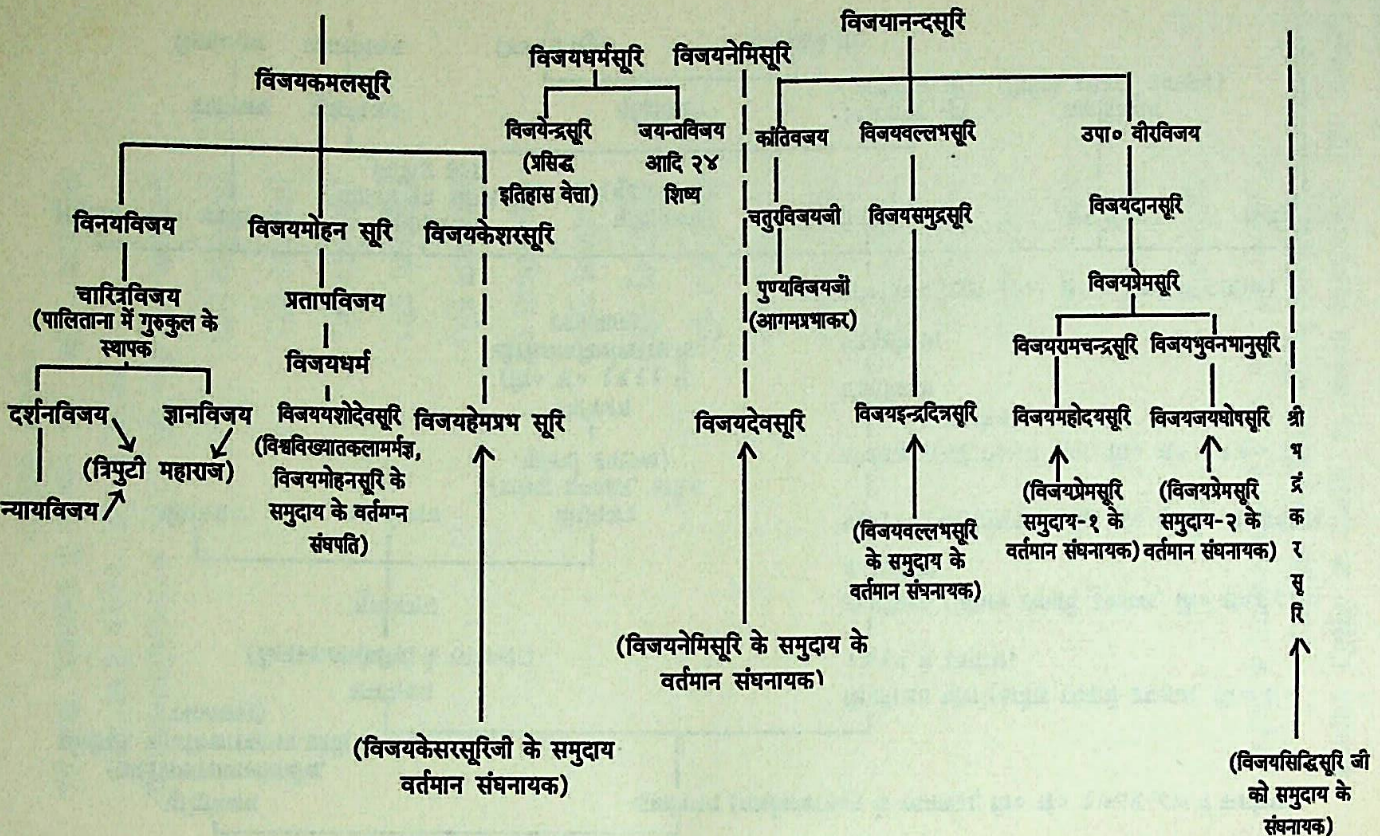

बूटेरामजी अपरनाम बुद्धिविजय जी
आत्माराम जी अपरनाम विजयानन्दसूरि
प्रवर्तक कातिविजयजी
लक्ष्मीविजयसूरि
विजयवल्लभसूरि
उपा० वीरविजय
मुनि चतुरविजय जी
(अनेक ग्रन्थों के लेखक व सम्पादक
हर्षविजयजी
विजयसमुद्रसूरि
विजयदान सूरि
विजयप्रेम सूरि
आगमप्रभाकर मुनि पुण्यविजयजी
(जैसलमेर, खंभात आदि
के ज्ञान भण्डारों के उद्धारक,
विभिन्न महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के
सम्पादक एवं संशोधक)
विजयरामचन्द्र सूरि
विजयभुवनभानु सूरि
विजयइन्द्रदिन्नसूरि
(वर्तमान गच्छाधिपति)
विजयमहोदय सूरि
(वर्तमान गच्छाधिपति)
विजयजयघोष सूरि
(वर्तमान गच्छाधिपति)

तालिका - ४

(साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर निर्मित तपागच्छ-विजयसंविग्नशाखा के मुनिजनों के गुरु-परम्परा की तालिका)

(जगच्चन्द्र सूरि) वि० सं० १२८५ में तपागच्छ के प्रवर्तक
|
(देवेन्द्र सूरि)
|
(धर्मघोष सूरि)
|
(सोमप्रभ सूरि)
|
(सोमतिलक सूरि)
|
(देवसुन्दर सूरि)
|
(सोमसुन्दर सूरि)
|
(मुनिसुन्दर सूरि)
|
(रत्नशेखर सूरि)
|
(लक्ष्मीसागर सूरि)
|
(सुमतिसाधु सूरि)
|
(हेमविमल सूरि)
|
(आनन्दविमल सूरि)
|
(विजयदान सूरि)
|
(हीरविजय सूरि)
|
(विजयसेन सूरि)
|
(विजयदेव सूरि)
|
(विजयसिंह सूरि)
|
सत्यविजय गणि (वि० सं० १७१० में विजयसंविग्नशाखा के प्रवर्तक, वि० सं० १७५६ में स्वर्गस्थ)
|
कपूरविजय (वि० सं० १७५७ में संघनायक, वि० सं० १७७५में स्वर्गस्थ)


कपूरविजय
वृद्धिविजय (उपदेशमालाबालावबोध, चौबीसी, जीवविचारस्तवन आदि के रचनाकार)
क्षमाविजय (पार्श्वनाथस्तवन के रचनाकार; वि० सं० १७८६-८७ में स्वर्गस्थ)
जसविजय (जिनस्तवनचौबीसी के रचनाकार)
जिनविजय गणि (अनेक रचनायें उपलब्ध; वि० सं० १७९९ में स्वर्गस्थ)
शुभविजय
धीरविजय
भाणविजय
वीरविजय (प्रसिद्ध ग्रन्थकार, अनेक कृतियाँ उपलब्ध)
रंगविजय (वि० सं० १९११ में वीरविजयनिर्वाणरास के रचनाकार)
उत्तमविजय (विभिन्न रचनायें उपलब्ध; वि० सं०१८२७ में स्वर्गस्थ)
पद्मविजय (प्रसिद्धरचनाकार; वि० सं० १८६२ में स्वर्गस्थ)
रूपविजय (कई रचनायें प्राप्त, वि० सं० १९१० में स्वर्गस्थ)
कीर्तिविजय
कस्तूरविजय
मणिविजय 'दादा' (वि० सं० १९३५ में स्वर्गस्थ)
अमृतविजय
पद्मविजय
गुलाबविजय ज्योतिष एवं आगम के विशिष्ट ज्ञाता
बुद्धिविजय (बूटेराय जी)
हीरविजय
शुभविजय
सिद्धिविजय
प्रेमविजय
जितविजय
मुक्तिविजय
कमलविजय
वृद्धिविजय
विजयधर्मसूरि
विजयनेमिसूरि
विजयानंद सूरि (आत्माराम जी)
लक्ष्मीविजय (विभिन्न रचनायें उपलब्ध)



विजयानन्दसूरि
विंजयकमलसूरि
विजयधर्मसूरि
विजयनेमिसूरि
विजयेन्द्रसूरि (प्रसिद्ध इतिहास वेत्ता)
जयन्तविजय आदि २४ शिष्य
कांतिविजय
विजयवल्लभसूरि
उपा० वीरविजय
चतुरविजयजी
विजयसमुद्रसूरि
विजयदानसूरि
पुण्यविजयजी (आगमप्रभाकर)
विजयप्रेमसूरि
विजयरामचन्द्रसूरि
विजयभुवनभानुसूरि
विनयविजय
विजयमोहन सूरि
विजयकेशरसूरि
चारित्रविजय (पालिताना में गुरुकुल के स्थापक
प्रतापविजय
विजयधर्म
दर्शनविजय
ज्ञानविजय
(त्रिपुटी महाराज)
न्यायविजय
विजययशोदेवसूरि (विश्वविख्यातकलामर्मज्ञ, विजयमोहनसूरि के समुदाय के वर्तमन्न संघपति)
विजयहेमप्रभ सूरि
विजयदेवसूरि
विजयइन्द्रदिन्नसूरि
विजयमहोदयसूरि
विजयजयघोषसूरि
श्री भद्रंकर सूरि
(विजयवल्लभसूरि के समुदाय के वर्तमान संघनायक)
(विजयप्रेमसूरि समुदाय-१ के वर्तमान संघनायक)
(विजयप्रेमसूरि समुदाय-२ के वर्तमान संघनायक)
(विजयनेमिसूरि के समुदाय के वर्तमान संघनायक)
(विजयकेसरसूरिजी के समुदाय वर्तमान संघनायक)
(विजयसिद्धिसूरि जी को समुदाय के संघनायक)

नागपुरीयतपागच्छ का इतिहास

शिवप्रसाद*

निर्ग्रन्थ परम्परा के श्वेताम्बर सम्प्रदाय में पूर्वमध्यकाल और मध्यकाल में उद्भूत विभिन्न गच्छों में नागपुरीयतपागच्छ (नागौरी तपागच्छ) भी एक है। जैसा कि इसके अभिधान से स्पष्ट होता है कि यह गच्छ तपागच्छ की एक शाखा के रूप में अस्तित्त्व में आया होगा, किन्तु इस गच्छ की स्वयं की मान्यतानुसार बृहद्गच्छीय आचार्य वादिदेवसूरि ने अपने चौबीस शिष्यों को एक साथ आचार्य पद प्रदान किया, जिनमें पद्मप्रभसूरि भी एक थे।[1] पद्मप्रभसूरि द्वारा नागौर में उग्र तप करने के कारण वहां के शासक ने प्रसन्न होकर उन्हें नागौरीतपा विरुद् प्रदान किया। इस प्रकार उनके नाम के साथ नागौरीतपा शब्द जुड़ गया और उनकी शिष्य सन्तति नागपुरीयतपागच्छीय कहलायी[2]। इसी गच्छ से आगे चल कर १६वीं शताब्दी में पार्श्वचन्द्रगच्छ अस्तित्व में आया और आज भी उस गच्छ के अनुयायी श्रमण-श्रमणी विद्यमान हैं।

नागपुरीयतपागच्छ से सम्बद्ध ग्रन्थ प्रशस्तियों एवं पट्टावलियों में यद्यपि इसे वि० सं० ११७४/ई० सन् १११८ में बृहद्गच्छ से उद्भूत बतलाया गया है, किन्तु इस गच्छ से सम्बद्ध उपलब्ध साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्य विक्रम सम्वत् की १६ वीं १७ वीं शताब्दी से पूर्व के नहीं हैं। नागपुरीयतपागच्छ का उल्लेख करने वाला सर्वप्रथम साक्ष्य है वि० सं० १५५१/ई० स०१४९५ में प्रतिष्ठापित शीतलनाथ की प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख। महोपाध्याय विनयसागर ने इस लेख की वाचना दी है[3], जो इस प्रकार है-

सं० १५५१ व० मा० २ सोमे उ० ज्ञा० सोनीगोत्रे सां० चांपा भा० चांपलदे पु० हया रामा हृदा पितृनि० आ० श्रे० श्री शीतलनाथ बिं० कारि० प्रति० नागुरी (नागपुरीय) तपाग० भ० सोमरत्नसूरिभिः॥

प्रतिष्ठा स्थान - ऋषभदेव जिनालय, मालपुरा

आदिनाथ जिनालय, नागौर में एक शिलापट्ट पर उत्कीर्ण वि० सं० १५९६ का एक खंडित अभिलेख प्राप्त हुआ है[4]। इस अभिलेख में राजरत्नसूरि और उनके शिष्य रत्नकीर्तिसूरि का नाम मिलता है। लेख का मूलपाठ इस प्रकार है:

॥ॐ॥ स्वास्तिश्रीसंवत् १५९६ वर्षे फाल्गुन मासे शुक्लपक्षे नवमी तिथौ सोमवारे नागपुरकोटे श्रीमालवंशे संकियाप्य (?) गोत्रे सं० नोल्हा पु० सं० चूहड़ सं० लक्ष्मीदास सं० भवानी सं० लक्ष्मीदास भार्या सं० सरूपदे नाम्नी हे..............
..............................श्रीराजरत्नसूरिपट्टे सं० श्रीरत्नकीर्तिसूरि प्रतिष्ठिता ॥
....।

*प्रवक्ता, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी ।

शिलापट्ट प्रशस्ति, आदिनाथ जिनालय, हीरावाड़ी, नागौर

उक्त अभिलेख से राजरत्नसूरि और उनके शिष्य रत्नकीर्तिसूरि किस गच्छ के थें, इस बारे में कोई सूचना प्राप्त नहीं होती किन्तु उक्त जिनालय में ही मूलनायक के रूप में स्थापित आदिनाथ की प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख से इस सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है। महोपाध्याय विनयसागर जी ने इस लेख का मूलपाठ दिया है[५], जो निम्नानुसार है:

॥ॐ॥ सं० १५९६ वर्षे फाल्गुन सुदि नवम्यां तिथौ.............................. ....गोत्रे ....सं० नोल्हा पु० सं० तेजा पु० सं० चूहड भा० सं० रमाइ पु सं० लक्ष्मीदास सं० लक्ष्मीदास भा०............................ ....कल्याणमल्ल तत्र लक्ष्मीदास भार्या सरूपदेव्यौ कर्मनिर्जरार्थं श्री आदिनाथ बिंब कारितं प्रतिष्ठितं ....भट्टारक श्रीसोमरत्नसूरिपट्टे भट्टारिक श्री श्रीराजरत्नसूरयस्तत्पट्टे श्रीरत्नकीर्तिसूरि...............................श्रीसंघस्य।

मूलनायक की प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख,
आदिनाथ जिनालय, हीरावाड़ी, नागौर

इस अभिलेख में रत्नकीर्तिसूरि का प्रतिमाप्रतिष्ठापक के रूप में उल्लेख मिलने के साथ-साथ उनके गुरु राजरत्नसूरि और प्रगुरु सोमरत्नसूरि का भी नाम मिलता है:



(वि० सं० १५९६ में आदिनाथ की प्रतिमा के प्रतिष्ठापक)

जैसा कि ऊपर हम देख चुके हैं नागपुरीयतपागच्छीय सोमरत्नसूरि का वि० सं० १५५१ के एक लेख में प्रतिमा प्रतिष्ठापक के रूप में उल्लेख मिलता है। अत: इन्हें समसामयिकता और नामसाम्य के आधार पर रत्नकीर्ति के प्रगुरु और राजरत्नसूरि के गुरु सोमरत्नसूरि से अभिन्न माना जा सकता है।

इस गच्छ का उल्लेख करने वाला अंतिम अभिलेखीय साक्ष्य वि० सं० १६६७ का है। इस लेख का मूलपाठ भी हमें विनयसागर जी द्वारा ही प्राप्त होता है[६]

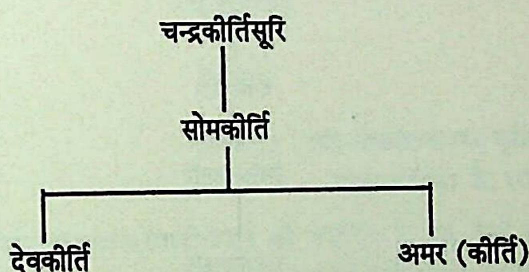
जो इस प्रकार है:

सम्वत् १६६७ फालगुन कृष्णा ६ गुरौ.................उसवालज्ञातीय दूगड़गोत्रे सा० सालिग पुत्र साह राजपाल पुत्र सा० खीमाकेन भार्या कुशलदे पुत्र गिरिधर सा० मानसिंघयुतेन श्री श्रेयासनाथबिंब कारितं प्रतिष्ठितं श्रीनागौरीतपागच्छे श्रीचन्द्रकीर्तिसूरि पट्टे श्रीसोमकीर्तिसूरिपट्टे श्रीदेवकीर्तिसूरि श्रीअमर ....। प्रतिष्ठितं नागौरी तपागच्छ श्री आगरानगरे मानसिंघेन लिपीकृतं ।।

मूलनायक की प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख

श्रेयांसनाथ जिनालय, हिंडोन

इस प्रकार इस अभिलेख में नागपुरीयतपागच्छ के चार मुनिजनों के नाम मिल जाते हैं, जो इस प्रकार हैं:

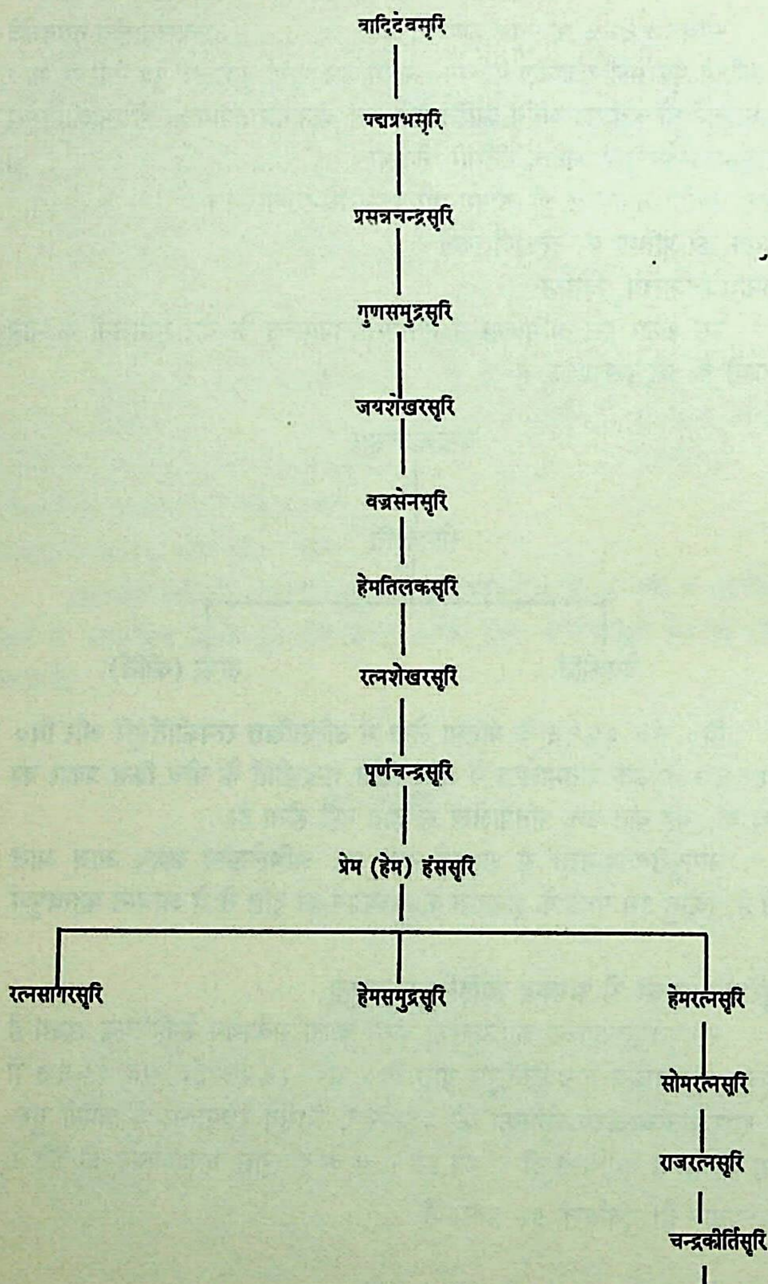


वि० सं० १५९६ के प्रतिमा लेख में उल्लिखित रत्नकीर्तिसूरि और वि० सं० १६६७ के उक्त प्रतिमालेख में उल्लिखित चन्द्रकीर्ति के बीच किस प्रकार का सम्बन्ध था, यह बात उक्त प्रतिमालेख से ज्ञात नहीं होता है।

नागपुरीयतपागच्छ से सम्बद्ध यही चार अभिलेखीय साक्ष्य आज आज मिलते हैं, किन्तु इस गच्छ के इतिहास के अध्ययन की दृष्टि से ये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

नागपुरीयतपागच्छ से सम्बद्ध साहित्यिक साक्ष्य

नागपुरीयतपागच्छ का उल्लेख करने वाला सर्वप्रथम साहित्यिक साक्ष्य है इस गच्छ के आचार्य चन्द्रकीर्तिसूरि द्वारा वि० सं० १६२३/ई० स० १५६७ में रचित **सारस्वतव्याकरणदीपिका** की प्रशस्ति[९], जिसमें रचनाकार ने अपनी गुरु-परम्परा की लम्बी गुर्वावली दी है, जो इस गच्छ के इतिहास के अध्ययन की दृष्टि से अतिमूल्यवान है। गुर्वावली इस प्रकार है:


वादिदेवसूरि
पद्मप्रभसूरि
प्रसन्नचन्द्रसूरि
गुणसमुद्रसूरि
जयशेखरसूरि
वज्रसेनसूरि
हेमतिलकसूरि
रत्नशेखरसूरि
पूर्णचन्द्रसूरि
प्रेम (हेम) हंससूरि
रत्नसागरसूरि
हेमसमुद्रसूरि
हेमरत्नसूरि
सोमरत्नसूरि
राजरत्नसूरि
चन्द्रकीर्तिसूरि
(सारस्वतव्याकरणदीपिका की प्रथमादर्शप्रतिके लेखक) हर्षकीर्ति

चन्द्रकीर्तिसूरि द्वारा रचित **धातुपाठविवरण**, **छन्दकोशटीका** आदि कई कृतियां प्राप्त होती हैं। इसी प्रकार इनके शिष्य हर्षकीर्ति भी अपने समय के प्रसिद्ध रचनाकार थे। इनके द्वारा रचित **सारस्वतव्याकरण धातुपाठ** (रचनाकाल वि० सं० १६६३/ई० स०१६०७), **योगचिन्तामणि** अपरनाम **वैद्यकसारोद्धार**, **शारदीयनाममाला**, **अजियसंतिथव (अजितशांतिस्तव)**, **उवरसग्गहरथोत्त (उपसर्गहरस्तोत्र)**, **धातुपाठ**, **नवकारमंत्र**, **(नमस्कारमंत्र)**, **बृहच्छांतिथव (बृहद्शान्तिस्तव)**, **लघुशान्तिस्तोत्र**, **सिन्दूरप्रकर** आदि विभिन्न कृतियां प्राप्त होती हैं।

गोपालभट्ट द्वारा रचित **सारस्वतव्याकरण** पर वृत्ति के रचनाकार भावचन्द्र भी नागपुरीयतपागच्छ के थे। अपनी उक्त कृति की प्रशस्ति[१०] में इन्होंने अपने गुरु-परम्परा का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है:

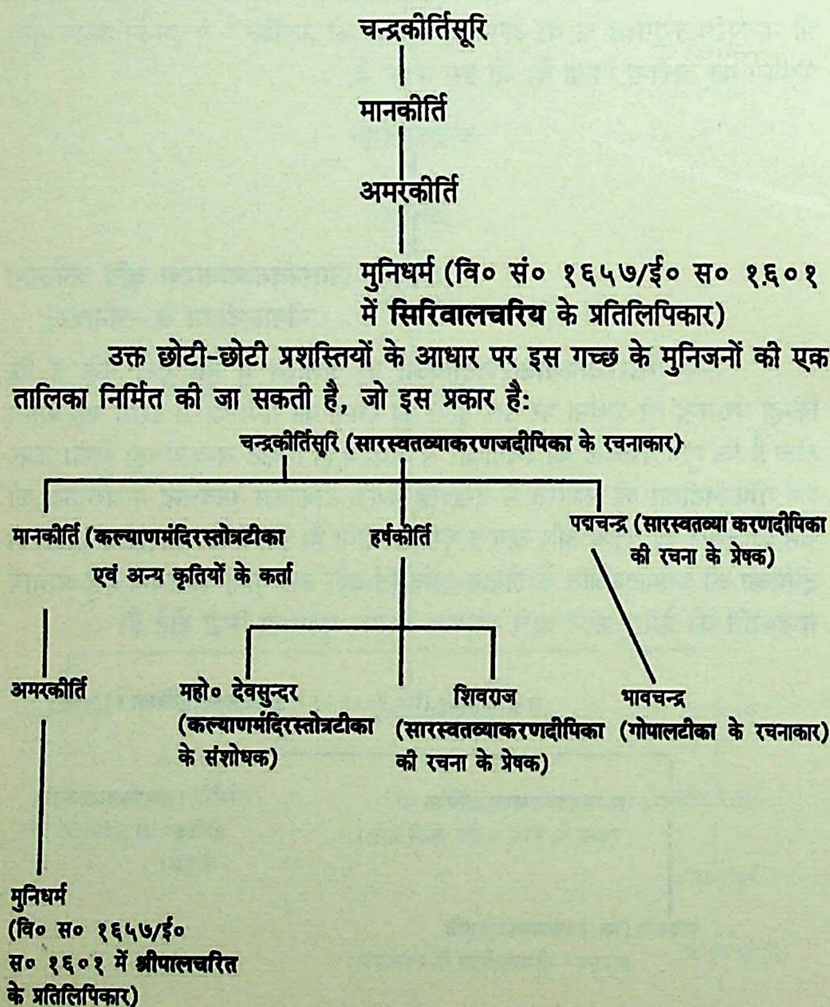
चन्द्रकीर्तिसूरि
|
पद्मचन्द्र
|
भावचन्द्र (**सारस्वतव्याकरण** वृत्ति अपरनाम **गोपालटीका के** रचनाकार)

ऊपर **सारस्वतव्याकरणदीपिका** की प्रशस्ति में हम देख चुके हैं कि किन्ही पद्मचन्द्र की प्रार्थना पर उक्त कृति की रचना की गयी थी[११]। इससे यह प्रतीत होता है कि मुनि पद्मचन्द्र का रचनाकार से अवश्य ही निकट सम्बन्ध रहा होगा। ऊपर हम **गोपालटीका** की प्रशस्ति में देख रहे हैं कि टीकाकार भावचन्द्र ने पद्मचन्द्र को चन्द्रकीर्तिसूरि का शिष्य और अपना गुरु बतलाया है। इस प्रकार **सारस्वतव्याकरण दीपिका** की प्रथमादर्शप्रति के लेखक हर्षकीर्ति और उक्त कृति की रचना हेतु आचार्य चन्द्रकीर्ति को प्रेरित करने वाले पद्मचन्द्र परस्पर गुरुभ्राता सिद्ध होते हैं।

चन्द्रकीर्तिसूरि (वि० सं० १६२३ में सारस्वतव्याकरणदीपिका के रचनाकार)
|
पद्मचन्द्र (सारस्वतव्याकरणदीपिका की रचना के लिए प्रार्थना करने वाले) — हर्षकीर्ति (सारस्वतव्याकरण दीपिका की प्रथमादर्श प्रति लेखक)
|
भावचन्द्र (सारस्वतव्याकरणवृत्ति अपरनाम गोपालटीका के रचनाकार)

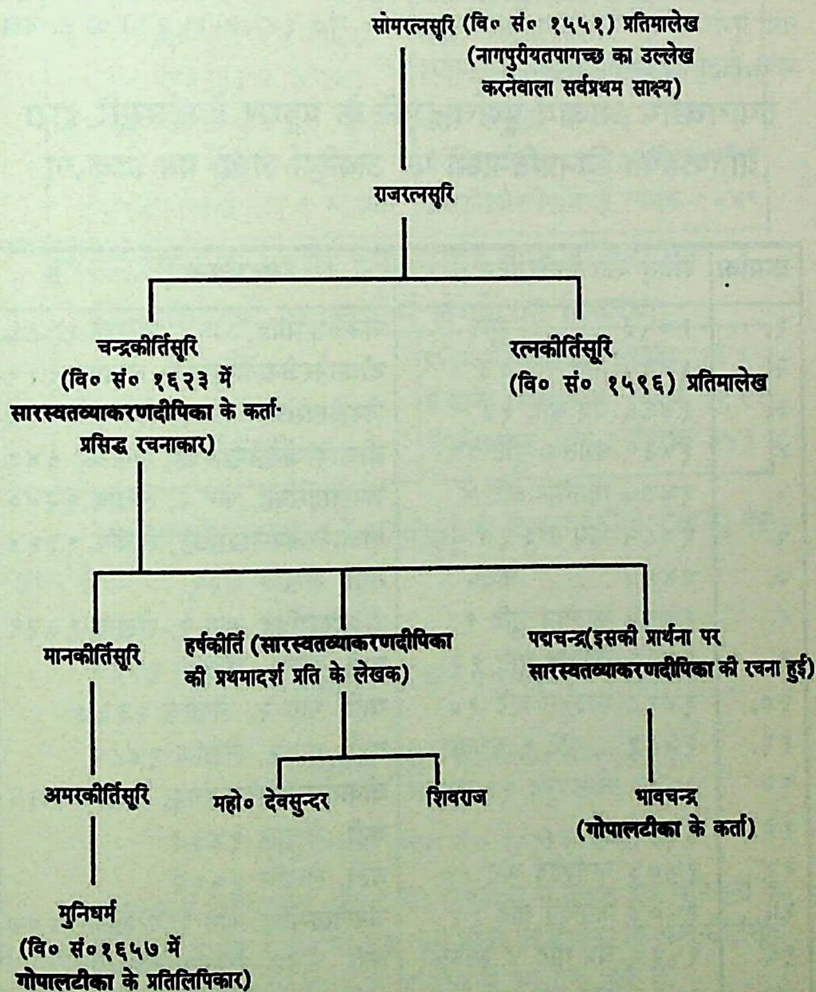
हर्षकीर्ति द्वारा रचित **कल्याणमंदिरस्तोत्रटीका** नामक एक अन्य कृति भी प्राप्त होती है, जिसका संशोधन उनके शिष्य महोपाध्याय देवसुन्दर ने किया[१२]। इसी प्रकार इनके एक शिष्य शिवराज ने अपने गुरु द्वारा रचित **बृहद्शांतिस्तव** की वि० सं० १६७६ में प्रतिलिपि की[१३]।

वि० सं० १६५६ में लिखी गयी **सिरिवालचरिय (श्रीपालचरित्र)** की प्रतिलेखन प्रशस्ति[१४] में भी इस गच्छ के कुछ मुनिजनों के नाम ज्ञात होते हैं, जो इस प्रकार हैं-



उक्त छोटी-छोटी प्रशस्तियों के आधार पर इस गच्छ के मुनिजनों की एक तालिका निर्मित की जा सकती है, जो इस प्रकार है:

सारस्वतव्याकरणदीपिका की प्रशस्ति में उल्लिखित रचनाकार चन्द्रकीर्ति के गुरु राजरत्नसूरि और प्रगुरु सोमरत्नसूरि समसामयिकता, नामसाम्य, गच्छसाम्य आदि को देखते हुए अभिलेखीय साक्ष्यों में उल्लिखित राजरत्नसूरि और उनके गुरु सोमरत्नसूरि से अभिन्न माने जा सकते हैं। इस आधार पर चन्द्रकीर्तिसूरि और रत्नकीर्तिसूरि-सोमरत्नसूरि के प्रशिष्य, राजरत्नसूरि के शिष्य और परस्पर गुरुभ्राता सिद्ध होते हैं। इस प्रकार इस गच्छ के मुनिजनों का जो वंशवृक्ष बनता है, वह इस प्रकार है:



चूंकि नागपुरीयतपागच्छ का वि० सं० १५५१ से पूर्व कहीं भी कोई

उल्लेख नहीं मिलता, अतः चन्द्रकीर्तिसूरि द्वारा रचित **सारस्वतव्याकरणदीपिका** की प्रशस्तिगत गुर्वावली में आचार्य सोमरत्नसूरि से पूर्ववर्ती हेमरत्नसूरि, हेमसमुद्रसूरि, हेमहंससूरि, पूर्णचन्द्रसूरि आदि जिन मुनिजनों का उल्लेख मिलता है, उन्हें किस गच्छ से सम्बद्ध माना जाये, यह समस्या सामने आती है। इस सम्बन्ध में हमें अन्यत्र प्रयास करना होगा।

तपागच्छीय अभिलेखीय साक्ष्यों में हमें हेमरत्नसूरि (वि० सं० १५३३), हेमरत्नसूरि के गुरु हेमसमुद्रसूरि (वि० सं० १५१७-२८) और हेमसमुद्रसूरि के गुरु तथा पूर्णचन्द्र सूरि के शिष्य हेमहंससूरि (वि० सं० १४५३-१५१३) का उल्लेख प्राप्त होता है। इनका विवरण इस प्रकार है:

तपागच्छीय आचार्य पूर्णचन्द्रसूरि के पट्टधर हेमहंससूरि द्वारा प्रतिष्ठापित जिनप्रतिमाओं पर उत्कीर्ण लेखों का विवरण

क्रमांक	संवत् माह तिथि दिन	संदर्भग्रन्थ
१.	१४५३ .... सुदि	जैनलेखसंग्रह, भाग२, लेखाकं १४८९
२.	१४६५ माघ वदि १३	बीकानेरजैनलेखसंग्रह, लेखांक ६१९
३.	१४६६ चैत्र सुदि १३	जैनलेखसंग्रह, भाग२, लेखांक ११९७
४.	१४६९ कार्तिक सुदि १५	बीकानेरजैनलेखसंग्रह, लेखांक, ६४१
५.	१४७५ मार्गसिर वदि ४	जैनलेखसंग्रह, भाग २, लेखांक १२४०
६.	१४८५ माघ वदि १४ बुधवार	बीकानेरजैनलेखसंग्रह, लेखांक १३१४
७.	१४८५ .... वदि५	वही, लेखांक ७२९
८.	१४९० फाल्गुन सुदि ९	जैनलेखसंग्रह, भाग २, लेखांक १३२९
९.	१४९६ वैशाख सुदि १२	वही, भाग२, लेखांक १४८१
१०.	१४९८ फाल्गुन वदि १०	वही, भाग २, लेखांक १३६७
११.	१५०१.....वदि ६ बुधवार	वही, भाग२, लेखांक १४८२
१२.	१५०३ ज्येष्ठ सुदि ११ शुक्रवार	बीकानेरजैनलेखसंग्रह, लेखांक ८६५
१३.	१५०३ ,, ,,	वही, लेखांक १४३३
१४.	१५०३ मार्गशीर्ष वदि १०	वही, लेखांक १५१२
१५.	१५०४ फाल्गुन वदि ११	जैनलेखसंग्रह, भाग २, लेखांक ११४७
१६.	१५१० चैत्र वदि ४ शनिवार	वही, भाग२, लेखांक ११५२
१७.	१५११ माघ वदि ९	वही, भाग२, लेखांक १४०१
१८.	१५१३ पौष सुदि ८	वही, भाग२, लेखांक १०८९

१९.	१५१३ ,, ,,	वही, भाग२, लेखांक १२६६
२०.	१५१३ ,, ,,	वही, भाग २,लेखांक १३७४

हेमहंससूरि के पट्टधर हेमसमुद्रसूरि द्वारा प्रतिष्ठापित जिनप्रतिमाओं पर उत्कीर्ण लेखों का विवरण

क्रमांक	संवत् माह तिथि दिन	संदर्भ ग्रन्थ
१.	१५१७ मार्गशीर्ष सुदि २ शनिवार	प्रतिष्ठालेखसंग्रह, लेखांक ५६९
२.	१५१७ माघ सुदि १० सोमवार	वही, लेखांक ५७३
३.	१५१८ माघ सुदि २ शनिवार	बीकानेरजैनलेखसंग्रह, लेखांक १२२६
४.	१५२१ वैशाख सुदि १३ सोमवार	वही, लेखांक १२९३
५.	१४२१ माघ सुदि १२ बुधवार	जैनलेखसंग्रह, भाग२, लेखांक ४४३
६.	१५२८ वैशाख वदि ६ सोमवार	बीकानेरजैनलेखसंग्रह लेखांक १२४९

हेमसमुद्रसूरि के पट्टधर हेमरत्नसूरि द्वारा प्रतिष्ठापित जिनप्रतिमाओं पर उत्कीर्ण लेखों का विवरण

१.	१५३३ माघ सुदि ६	प्रतिष्ठालेखसंग्रह, लेखांक ७६४
२.	१५३३ ,,	बीकानेरजैनलेखसंग्रह, लेखांक ११९१
३.	१५३७ मार्गशीर्ष सुदि १२	जैनलेखसंग्रह, भाग-१,लेखांक ३५३

उक्त अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर जो पट्टक्रम निश्चित होता है, वह इस प्रकार है-

पूर्णचन्द्रसूरि
|
हेमहंससूरि (वि०सं० १४५३-१५१३)
|
हेमसमुद्रसूरि (वि० सं० १५१७-१५२८)
|
हेमररत्नसूरि (वि० सं० १५३३-१५३७)

इस प्रकार तपागच्छीय अभिलेखीय साक्ष्यों में न केवल उक्त मुनिजनों के नाम मिलते हैं, बल्कि उनका पट्टक्रम भी ठीक उसी प्रकार का है जैसा कि चन्द्रकीर्तिसूरि द्वारा रचित **सारस्वतव्याकरणदीपिका** की प्रशस्ति में हम देख चुके हैं।

सारस्वतव्याकरणदीपिका की प्रशस्ति में पूर्णचन्द्रसूरि के गुरु का नाम

रत्नशेखरसूरि और प्रगुरु का नाम हेमतिलकसूरि दिया गया है। रत्नशेखरसूरि द्वारा रचित **सिरिवालचरिय (श्रीपालचरित्र)** रचनाकाल वि० सं० १४२८/ई० स० १३७२; **लघुक्षेत्रसमास स्वोपज्ञवृत्ति, गुरुगुणद्वात्रिंशिका, छंदकोश, सम्बोधसत्तरीसटीक, लघुक्षेत्रसमाससटीक** आदि विभिन्न कृतियां प्राप्त होती हैं। **सिरिवालचरिय** की प्रशस्ति में उन्होंने अपने गुरु, प्रगुरु, शिष्य तथा रचनाकाल आदि का निर्देश किया है, जो इस प्रकार है:

सिरिवज्जसेणगणहर-पट्टप्पहू हेमतिलयसूरीणं।
सीसेहिं रयणसेहर,-सूरीहिं इमा हु संकलिया ॥१३४०॥
तस्सीसहेमचंदेण, साहुणा विक्कमस्सवरसंमि ।
चउदसअट्ठावीसे, लिहिया गुरुभत्तिकलिएणं ॥१३४१॥

वज्रसेनसूरि
|
हेमतिलकसूरि
|
रत्नशेखरसूरि
|
हेमचन्द्र

यह उल्लेखनीय है कि रत्नशेखरसूरि ने उक्त प्रशस्ति में अपने गच्छ का निर्देश नहीं किया है। यही बात उनके द्वारा रचित अन्य कृतियों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। वि० सं० १४२२ के एक प्रतिमालेख में तपागच्छीय ? किन्हीं रत्नशेखरसूरि का प्रतिमा प्रतिष्ठा हेतु उपदेशक के रूप में नाम मिलता है। यदि हम इस वाचना को सही मानें तो उक्त प्रतिमालेख में उल्लिखित रत्नशेखरसूरि को समसामयिकता और नाम साम्य के आधार पर उक्त प्रसिद्ध रचनाकार रत्नशेखरसूरि से समीकृत किया जा सकता है। एक रचनाकार द्वारा अपनी कृतियों की प्रशस्तियों में अपने गुरु, प्रगुरु, शिष्य तथा रचनाकाल का उल्लेख करना जितना महत्त्वपूर्ण है, वहीं उनके द्वारा अपने गच्छ का निर्देश न करना उतना ही आश्चर्यजनक भी है।

कर्पूरप्रकर नामक कृति की प्रशस्ति[१६] में रचनाकर हरिषेण ने स्वयं को वज्रसेन का शिष्य और **नेमिनाथचरित्र** का कर्ता बतलाया है, किन्तु इन्होंने न तो कृति के रचनाकाल का कोई निर्देश किया है और न ही अपने गच्छ आदि का। ऊपर **सिरिवालचरिय** (रचनाकाल वि० सं० १४२८/ई०स० १३७२) प्रशस्ति में हेमतिलकसूरि के गुरु का नाम वज्रसेनसूरि आ चुका है, अतः नामसाम्य के आधार

पर उक्त दोनों प्रशस्तियों में उल्लेखित वज्रसेनसूरि के एक ही व्यक्ति होने की संभावना व्यक्त की जा सकती है। इस संभावना के आधार पर **कर्पूरप्रकर, नेमिनाथचरित्र** आदि के रचनाकार हरिषेण और **सिरिवालचरिय** तथा अन्य कई कृतियों के कर्ता हेमतिलकसूरि परस्पर गुरुभ्राता माने जा सकते हैं।

सारस्वतव्याकरणदीपिका की प्रशस्ति में ऊपर हम देख चुके हैं वज्रसेनसूरि के गुरु का नाम जयशेखरसूरि और प्रगुरु का नाम गुणसमुद्रसूरि तथा उनके गुरु का नाम प्रसन्नचन्द्रसूरि बतलाया गया है जो इस परम्परा के आदिपुरुष पद्मप्रभसूरि के शिष्य थे। **छन्दकोश** पर रची गयी वृत्ति की प्रशस्ति[१७] में रचनाकर चन्द्रकीर्ति ने पद्मप्रभसूरि को **दीपकशास्त्र** का रचनाकार बतलाया है:

वर्षैः चतुः सप्तति युक्तरुद्र शतै ११७४ रतीतैरथ विक्रमार्कात् ।
वादीन्द्रमुख्योः गुरु देवसूरिः सूरींश्चतुर्विंशतिमभ्यषिंचत् ॥
तेवां च यो दीपकशास्त्रकर्ता पद्मप्रभः सूरिवरो वभूव ।
यदिय शाखा प्रथिता क्रमेण ख्याता क्षितौ नागपुरी तपेति ॥

ठीक यही बात विक्रम सम्वत् की १८ वीं शती के अंतिम चरण के आस-पास रची गयी नागपुरीयतपागच्छ की **पट्टावली**[१८] में भी कही गयी है, किन्तु वहां ग्रन्थ का नाम **भुवनदीपक** बतलाया गया है। इसी गच्छ की दूसरी **पट्टावली**[१९] (रचनाकाल-विक्रम सम्वत् बीसवीं शताब्दी का अंतिम चरण) में तो एक कदम और आगे बढ़ कर **भुवनदीपक** का रचनाकाल (वि० सं० १२२१) का भी उल्लेख कर दिया गया है।

किन्ही पद्मप्रभसूरि नामक मुनि द्वारा रचित **भुवनदीपक** अपरनाम **ग्रहभावप्रकाश** नामक ज्योतिष शास्त्र की एक कृति मिलती है[२०], परन्तु उसकी प्रशस्ति में न तो रचनाकर ने अपने गुरु, गच्छ आदि का नाम दिया है और न ही इसका रचनाकर ही बतलाया है, फिर भी नागपुरीयतपागच्छीय साक्ष्यों-**छन्दकोशवृत्ति** की प्रशस्ति तथा इस गच्छ की **पट्टावली** के विवरण को प्रामणिक मानते हुए विद्वानों ने इन्हें वादिदेवसूरि के शिष्य पद्मप्रभसूरि से अभिन्न माना है। नागपुरीयतपागच्छीय पट्टावली (रचनाकाल २० वीं शताब्दी का अंतिम भाग) में उल्लिखित **भुवनदीपक** के जहां तक रचनाकाल का प्रश्न है, चूंकि इस सम्बन्ध में किन्ही भी अन्य साक्ष्यों से कोई सूचना नहीं मिलती, दूसरे अर्वाचीन होने से इसमें अनेक भ्रामक और परस्पर विरोधी सूचनायें संकलित हो गयी हैं अतः इसकी प्रामणिकता पर प्रश्नचिन्ह लग जाता है। पद्मप्रभसूरि की परम्परा में हुए हरिषेण एवं रत्नशेखरसूरि द्वारा अपने गच्छ का उल्लेख न करना तथा इसी परम्परा में बाद में हुए चन्द्रकीर्तिसूरि, मानकीर्ति, अमरकीर्ति आदि द्वारा स्वयं को नागपुरीय तपागच्छीय और अपनी परम्परा को बृहद्गच्छीय वादिदेवसूरि

से सम्बद्ध बतलाना वस्तुत: इतिहास की एक अनबूझ पहेली है जिसे पर्याप्त साक्ष्यों के अभाव में सुलझा पाना कठिन है और यह प्रश्न अभी अनुत्तरित ही रह जाता है।

सन्दर्भ

१- २-(अ)

तीर्थे वीरजिनेश्वरस्य विदिते श्रीकौटिकाख्ये गणे ।
श्रीमच्चान्द्रकुले वटोद्भवबृहद्गच्छे गरिम्नान्विते ।
श्रीमन्नागपुरीयकाह्वयतपाप्राप्तावदातेऽधुना
स्फूर्ज्जद्भूरि गुणान्विता गणधर श्रेणी सदा राजते ।।२।।
वर्षे वेद-मुनीन्द्र-शंकर (११७४) मिते श्रीदेवसूरि:प्रभु:
जज्ञेऽभूत तदनु प्रसिद्ध महिमा पद्मप्रभ: सूरिराट् ।।

सारस्वतव्याकरणदीपिका की प्रशस्ति

A. P.Shah, Ed, *Catalogue of Sanskrit and Prakrit Mss, Muni Punya VijayaJis Collection*, Part II, L. D. Series No-5, Ahmedabad 1965 A.D, Pp 376-377.

(ब) "नागपुरीयतपागच्छ पट्टावली"
मुनि जिनविजय, संपा०, **विविधगच्छीयपट्टावलीसंग्रह**, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक ५३, मुम्बई १९६१, पृष्ठ ४८-५२.

(स) "नागपुरीयतपागच्छपट्टावली"
मोहनलाल दलीचंद देसाई, **जैनगूर्जरकविओ**, नवीनसंस्करण, संपा०- डॉ० जयन्त कोठारी, भाग९, मुम्बई १९९७ ई०, पृष्ठ - ९८-१०५.

३. महोपाध्याय विनयसागर, संपा०, **प्रतिष्ठालेखसंग्रह**, कोटा १९५३ लेखांक-८६५

४. वही, लेखांक ९९४

५. वही, लेखांक ९९५

६. वही, लेखांक १०९२

७. **सारस्वतव्याकरण दीपिका की प्रशस्ति :**

सुबोधिकायां क्लृप्तायां सूरिश्रीचन्द्रकीर्त्तिभि:।
कृत्प्रत्ययानां व्याख्यानं बभूव सुमनोहरम् ।।१।।
तीर्थे वीरजिनेश्वरस्य विदिते श्रीकौटिकाख्ये गणे
श्रीमच्चान्द्रकुले बटोद्भवबृहद्गच्छे गरिम्नान्विते।
श्रीमन्नागपुरीयकाह्वयतपाप्राप्तावदातेऽधुना

स्फूर्ज्जद्भूरिगुणान्विता गणधरश्रेणी सदा राजते ॥२॥
वर्षे वेद-मुनीन्द्र-शङ्कर (११७४) मिते **श्रीदेवसूरिः** प्रभुः।
जज्ञेऽभूत् तदनु प्रसिद्धमहिमा पद्मप्रभः सूरिराट्।
तत्पट्टे प्रथितः **प्रसन्नशशिभृत** सूरिः सतामादिमः।
सूरीन्द्रास्तदनन्तरं गुणसमुद्राह्वा बभूवुर्बुधाः॥३॥
तत्पट्टे **जयशेखराख्यसुगुरूः** श्रीवज्रसेनस्तत-
स्तत्पट्टे **गुरुहेमपूर्वतिलकः** शुद्धक्रियोद्द्योतकः।
तत्पट्टे **प्रभुरत्नशेखरगुरुः** सूरीश्वराणां वर-
स्तत्पट्टाम्बुधिपूर्णचन्द्रसदृशः **श्रीपूर्णचन्द्रप्रभुः**॥४॥
तत्पट्टेऽजनि **प्रेमहंससुगुरुः** सर्वत्र जाग्रद्यशाः
आचार्या अपि रत्नसागरवरास्तत्पट्टपद्मार्यमा।
श्रीमान्**हेमसमुद्रसूरि**रभवच्छ्रीहेमरत्नस्तत
स्तत्पट्टे प्रभु**सोमरत्न**गुरवः सूरीश्वराः सद्गुणाः॥५॥
तत्पट्टोदयशैलहेलिरमलश्रीजेसवालान्वया-
ऽलङ्कारः कलिकालदर्पदमनः **श्रीराजरत्नप्रभुः**।
तत्पट्टे जितविश्ववादिनिवहा गच्छाधिपाः संप्रति
सूरिश्रीप्रभु**चन्द्रकीर्ति**गुरवो गाम्भीर्यधैयाश्रयाः॥६॥
तैरियं **पद्मचन्द्राह्वोपाध्यायाभ्यर्थना** कृता।
शुभा सुबोधिकानाम्नी श्रीसास्वतदीपिका ॥७॥
श्रीचन्द्रकीर्तिसूरीन्द्रपादाम्भोजमधुकरः।
श्रीहर्षकीर्तिरिमां टीकां प्रथमादर्शकेऽलिखत् ॥८॥
अज्ञातध्वान्तविध्वंसविधाने दीपिकानिभा।
दिपिकेयं विजयतां वाच्यमाना बुधैश्चिरम् ॥९॥
स्वल्पस्य सिद्धस्य सुबोधकस्य सारस्वतव्याकरणस्य टीकाम् ।
सुबोधिकाख्यां रचयाञ्चकार सूरीश्वरः श्रीप्रभुचन्द्रकीर्त्तिः॥१०॥
गुण-पक्ष-कला (१६२३) संख्ये वर्षे विक्रमभूपतेः।
टीका सारस्वतस्येषा सुगमार्था विनिर्मिता ॥११॥)

इति **श्रीमन्नागपुरीयतपागच्छाधिराजभट्टारकश्रीचन्द्रकीर्तिसूरिविरचिता श्रीसारस्वतव्याकरणस्य दीपिका** समाप्ता॥ अस्मिन् समाप्ता ॥ समाप्तोऽयमिति ग्रन्थः।

A. P. Shah, Ibid, Part II, No- 5974, Pp 376-377.

८. मोहनलाल दलीचंद देसाई, **जैनसाहित्यनो संक्षिप्त इतिहास**, बम्बई १९३१

ई० पृष्ठ ५८५.

९. वही, पृष्ठ ५९३.

स्वस्ति श्रीमति सत्प्रभावकलिते विद्वद्‌गणालंकृते
श्रीमन्नागपुरीयसंज्ञकतपागच्छे प्रसिद्ध भुवि।
जाग्रद् भारतिसुप्रसादसुरभिस्फारस्फुरत्तेजसि
सूरीन्द्रप्रवरे चिरं विजयिनि **श्रीचन्द्रकीर्तिप्रभौ** ॥१॥
नित्यं तेऽत्र जयन्ति गणैर्मान्याः समासादित (?)
क्षेत्राधीशवराश्च पाठकवराः श्रीपद्मचन्द्राभिधाः॥
तच्छिष्योत्तमभावचन्द्रवचसा सारस्वतस्य स्फुटां
टीका चारुविचारसाररुचिरां गोपालभट्टो व्यधात् ॥२

A. P. Shah, Ed. **Ibid,**

L. D. Siries No-20 , Ahmedabad 1968 A.D No- 9541 Pp. 94-95

११. तैरियं पद्मचन्द्राह्वोपाध्यायाभ्यर्थना कृता ।
शुभा सुबोधिकानाम्नी श्रीसारस्वतदीपिका ॥६॥

सारस्वतव्याकरणदीपिका की प्रशस्ति, द्रष्टव्य- संदर्भ क्रमांक ७.

१२. श्रीमन्नागपुरीयकाहवयतपागच्छाधिपाः सत्क्रियाः
सूरिश्रीप्रभचन्द्रकीर्तिगुरवस्तेषां विनेयो वरः।
वाच्य पाठक हर्षकीर्तिरकरोत् कल्याणपद्मस्तवे
मेघामंदिर देवसुन्दरमहोपाध्याय राजो महान् ॥१॥
यत्किंचिन्ततिमान्दत्वात् यच्चात्रानवधानतः।
व्याख्यातं वैपरीत्येन तद् विशोध्यं विचक्षणैः॥२॥

A. P. Shah, Ibid, Part I, No- 1671, Pp 97-98.

१३. इतिश्रीबृहच्छांतिटीका समाप्ताः॥ शुभं भवतु ॥ श्रीरस्तुः ॥
संवत् १६७६ वर्षे वैशाख मासे । शुक्लपक्षे । द्वितीयां तिथौ। च (चं) द्रवासरे लिपिकृताः ॥ श्रीमन्नागपुरीपतपागच्छे। । भ० श्रीश्रीमानकीर्तिसूरिस्तेषांपट्टे उ० श्रीहंसकीर्ति। ततशिख्य (ष्य) शिवराजेन लिखितमस्तिः । स्वपठनाय लेखक पाठक (:) श्रीरस्तु ।

H. R. Kapadia, Ed. *Descriptive Catalogue of the Govt. Collections of Mss. Deposited at B.O.R.I.* Vol. XVIII, Part iv, Poone 1948 A. D.P- 121.

१४. संवत् १६५७ वर्षे आषाढ़ मासे शुक्लपक्षे । प्रतिपदायां तिथौ। सोमवारे श्रीनागपुरमध्ये। पातसाहि श्रीअकबर राज्ये। श्रीवर्धमानतीर्थे सुधर्म्मास्वामिनोऽन्वये।

कौटिकगणे। वइरीशाखायां। चंद्रकुले । पूर्वं श्रीमद्बृहद्गच्छे सांप्रतं। प्राप्त नागपुरीय तपा इति प्रसिद्धावदाते । वादि श्री देवसूरिसंताने । भ० श्री चन्द्रकीर्तिसूरिवरास्तेषां पट्टे सर्वत्र जेगीयमानकीर्ति भ० श्रीमानकीर्ति सूरि पुरंदरास्तेषां शिष्या आचार्य श्री श्री ५ अमरकीर्तिसूरयस्तेषां शिष्येण मुनिधर्माह्वयेन लिपीचक्रे।

अमृतलाल मगनलालशाह, संपा०, **श्रीप्रशस्तिसंग्रह**, श्री जैनसाहित्य प्रदर्शन, श्री देशविरति धर्माराजक समाज, अहमदाबाद वि० सं० १९९३, भाग २, प्रशस्ति क्रमांक ६२८, पृष्ठ १५९-६०.

१५. प्राचीन पुस्तकोद्धार फंड, ग्रन्थांक ३५, जिनदत्तसूरि ज्ञान भंडार, सुरत वि० सं० १९८५/ई० सन् १९२९.

१६. श्रीवज्रसेनस्य गुरोस्त्रिषष्टिसारप्रबंधस्फुटसद्गुणस्य ।। शिष्येण चक्रे हरिणेयमिष्टा, सूक्तावली नेमिचरित्रकर्ता ।।

कर्पूरप्रकर की प्रशस्ति, प्रकाशक-बालाभाई कलक भाई, मांडवीपोल , अहमदाबाद वि० सं० १९८२/ई० सन् १९२६.

१७. मोहनलाल दलीचंद देसाई, **जैनगूर्जरकविओ**, भाग२ (प्राचीन संस्करण, पृष्ठ ६५६.

१८-१९. द्रष्टव्य संदर्भ क्रमांक १ और २

२०. ग्रहभावप्रकाशाख्यं शास्त्रमेतत्प्रकाशितम् ।।
लोकानामुपकाराय श्रीपद्मप्रभुसूरिभिः ।।१७०।।

भुवनदीपक का अंतिम श्लोक.

प्रकाशक- गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास, श्रीलक्ष्मी वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, बम्बई वि० स० १९९६/ ई० स० १९३९.



The Image of Indian Ethology

Rajmal Jain

Basic Problems of Ethics

Since man is a rational animal, his innate characteristics are to think and contemplate.[1] Thought and conduct are the two aspects of his life. The two, when entwined, give rise to reasoning and wisdom. Human greatness consists in his discrimination. Food, sleep, fear and sex are common characteristics of all animals including man, but he alone is endowed with discretion which other animals lack.[2] This makes him think who he is, whence he has come, what for he has been born, what makes his life sublime, what conduct is good and what leads him astray, how he should sit and stand, what and when to eat so as to save him from sin. Such curiosity is discernible in Jaina scriptures like Ācārāṅga and Daśavaikālika, obviously the goal of life has ever his concern for which he has always striven.[3]

Man is a social being. He comes in contact with others which makes him ponder as to how he should deal with them. Arjuna in the *Gītā* faces this very problem, because he knows not whether he should fight with his own kith and kin.[4]

It deals with the ultimate good and the way of attain it. Society can subsist only when people live amicably and have harmonious relations with one another.

The need of studying ethics

It guides us to discriminate between the good and bad, proper and improper. It awakens man to realise his ideal the propensity and potentiality for which is deep inside him. Man cannot live without bread, but can even buttered bread satisfy his inner being? Is he the body or its possessor? Ācārya Bhadrabāhu has rightly said, " Howsoever valiant a blind man may be, he can never dream of defeating his enemy, so also an ignorant man oblivious of the purpose of his life can never rise to the occasion and shall be subject to his passions and infirmities.[5] Ācārya Baṭṭakera avers in *Mūlācāra* that Jainism stresses on two things ; what path a spiritual aspirant should take and what the ideal of his life should

be·[6] Jainas should know the way leading to desired destination. The Buddhistic ethics expatiates on the third Noble Truth, viz how to be rid of suffering so as to attain salvation. The fourth one makes us aware of the eightfold way. The Jaina ethics emphasizes the three 'jewels' which alone can guarantee liberation. The *Gitā* talks of three ways of knowledge, action and devotion, All the three mention the ideal of life and means to attain it. All this we learn from ethics.

None can stay idle all the time. Life and conduct have inseparable association so that we cannot think of the one without the other. Conduct is verily the characteristic of life. Jainism regards conduct as the differentia of human life,[7] and activity as the root of life[8]. All beings are gifted with body, speech and mental functions. The *Gītā* says, 'Surely none can remain inactive even for a moment: everyone is helplessly driven to action by nature-born qualities.[9] The Buddhist say that activity characterises life so much that there is no doer apart from action. Action itself is the doer.[10] Matthew Arnold says that conduct is three-fourth of life.[11] Mackenzie says that in view of purposive activity conduct itself is life. Now the question is whether all conduct is equally beneficent. It cannot be since many aspects of it are positively hurlful. It is the sacred lore that instructs us as to what is ethical or unethical beneficent or maleficent. The Gītā holds "Let the scripture be your authority in determining what ought to be done and what ought not to be done. Knowing this, you should do here only such actions as sanctioned by scriptural ordinance." The study of ethics is, therefore, necessary to comprehend merit and demerit, virtue and sin, duty and the like.

With consciousness comes wisdom which weighs the actions of others to determine whether they will lead to the desired goal but such evaluation may not always be right, because each one has his own criteria which may or may not be dependable. The study of ethics enables us to distinguish between the right and the wrong or between moral and immoral objects and actions.

The study of ethics helps us in taking right decisions without which human life is of no significance. Without knowledge there can

be no right conduct. What can you expect from an ignorant aspirant? How can he possibly discriminate between the truly and apparently enticing objects or persons, between the auspicious and inauspicious or between materialism or spiritualism.[12] All Jaina preceptors ask us first to know the sacred literature and then adopt the right course. Ācārya Kundakunda rightly says that he who knows the difference between moral and immoral thoughts or actions can avoid the worldly entanglements, and sincerely strive for liberation.[13] So says the *Gītā*, The truth about action must be known and the truth of prohibited action must also be known even so the truth about inaction must be known. For mysterious are the ways of action.[14] He who discards scriptures and acts wilfully is doomed here and hereafter.

Man's knowledge is imperfect. It is a ticklish question as to what is meant by the highest good. How to judge actions? What touchstone can possibly clinch the issue? Some gave importance to rules and precepts whereas others emphasized satisfaction soul. Some gave primacy to resolve whereas some others looked for consequences. Some glorified values. Many theories were propounded which might confuse the common man. The study of ethics alone can point out what is spiritually uplifting.

There is no direct relationship between the knowledge of ethics and man's actions. An illiterate person may very well be righteous and a profound scholar may turn out to be depraved and licentious,. The *Mahābhārata* enunciates that even though one knows what is right but practises still its opposite. Even though conscious of some action being definitively immoral one can hardly get away from it.[15+16] A Jaina scripture says that a blind man can see nothing even though it is light all round. So also even though scriptures may be on either side of him, the scholar's behaviour may not be up to the mark. Jainism and the *Gītā* hold that the study of ethics does help man in his practical life. This has been elaborated in the last chapter of the *Gītā*.[17] He who is learned attains perfection in modesty, penances and efficacy of character.[18]

There are three theories propounded in the West as under :

(i) Theoretical angle of vision ; it holds that theory and practice

do not agree with each other. Moral principles tell us what human nature is, not what it should be. The Dutch Spinoza truly represents this school. Bosanquet and Bradley too are its adherents. It has been held that the knowledge of good and bad is innate. As such no study can generate or strengthen what is man's own.

(ii) Practical angle of vision; it holds that the two are inter-related. The predecessors of Aristotle whether they were stoic, hedonists, utilitarian or progressive, upheld this view.

(iii) Co-ordinating angle of vison : it holds that even though not closely related, the study of ethics cannot but influence conduct. Mackenzie states that a bad principle vitiates the tastes of one generation at times whereas a good one is of substantial help in refining such taste. Aristotle and Mackenzie support this view.

In the initial stage both Buddhism and Jainism had advocated the practical aspects but no Indian philosophy ever tried to treat them as contraries. Their attempt was to co-ordinate them.

The Jaina philosophers have not ignored the close relationship between the two. *Uttarādhyayana* and *Daśavaikālika* have held that the study of ethics is essential for practical life, even though they know that no close study of ethics can unravel the knot of life. Bhadrabāhu says that mere theoretical knowledge cannot guarantee right action. An expert swimmer for want of practice may be drowned, so also a spiritual aspirant is inextricably involved in mundane affairs for want of timely application of his knowledge. Expertise in theory has been compared to a lamp and tact to an eye. Of what use is the profoundest knowledge of scriptures? Can a blind man see anything even though crores of lamps have been lighted. Even a little knowledge of scriptures can be of help to man in his pratical life, just as a single lamp shows the way to seeing eyes. A sound theory makes us awares of the ideal to be achieved. As the eye needs light and light needs the eye, so also theory helps practice and practice makes theory virile. The two together ennoble life. Moore also supports this view. The former says that it is hard to disbelieve the practical aspect even for those who are interested in upholding its theoretical aspect.

Reshadal and Moore say that the systematization of duty is the

aim of all moral investigations.

We should know not only what is good or bad but also why it is so. At times a person may be in two minds, since he is unable to ascertain what is really moral or immoral. The *Gītā* says that the truth about action and inaction must be known. Without studying ethics it is not easy to decide whether other's actions are justifiable or not . Besides this, there are marked differences and dissimilarities between different climes. For all this we must study ethics to augment our knowledge.

Ethology has been defined as (i) It is the understanding of customs and social rules. (ii) It is the knowledge of the intricacies of conduct or character. (iii) It is the comprehension of what is proper and improper. (iv) It concerns itself with duty. (v) Its main concern is what is the highest good or ideal of human life. (vi) It is a well-organized system of valuation. (vii) It analyses moral concepts.

The Indian traditions takes theological jurisprudence and the science or morality as two distinct entities. The meaning of indian ethics is different from the Western one. In India it has been interpreted as political science. Still it includes the rules of social structure and the like. The word Ethics is derived from Ethos[19] which means customs. The science of morality in the West is our theology. Hence it is necessary to know what exactly is meant by piety. The Jainas interpret it as obedience. Mahāvīra says that obedience to his commands is piety in the true sense. The philosophy of Mīmānsā says that the observance of Vedic Precepts is Dharma[20]. The Jainas have included also social regulations and ethical self-restrictions. There are references to duties relating to villages, towns, federation and the like. These indian definations have similarity with the Western one which relates to customs and the like. Piety is mainly concerned with conduct. In the commentary on '*Sthānāṅgasūtra* Ācārya Abhayadeva interprets it as conduct, pure and simple. Ācārya Kundakunda also corroborates it.[21] *Ācārāṅganiryukti* holds that the essence of piety consists in scriptural texts and sermons. Manu's interpretation is the very same one. He also says that it is the behaviour shorn of love and hatred and that what is approved by our inner self is the quintessence of piety.[22]

Piety instructs us in the observance of duty. It tells of man's

responsibilites and is benedictory in nature. It has been taken as the unfailing benefactor of the world[23]. What protects the subjects is piety as explicated by the *Mahābhārata*. The *Gītā* says that ethics teaches us our duty and also what is never to be undertaken and always to be shunned.

Ḍaśavaikālikaniryukti says that piety purifies our heart and does the highest good to all. Ācārānganiryukti[24] says that piety ensures liberation. It says that piety is the essence of the universe; the essence of piety is self-knowledge and the essence of awareness is self-control. Liberation is the essence of restraint. Kaṭhopaniṣada[25] says that the wise choose not mundane achievement but only spiritual upliftment. Ācārya Śubhacandra avers that piety causes mundane and spiritual welfare[26]. Tha Jaina have defined it also as steadfastness in one's own nature to the exclusion of the alien.[27] The other definition is the pure image of the spirit which is truly beneficent in the beginning, middle and end[28]. *Vaiśeṣikasūtra* says that it is both pleasing and uplifting.[29]

The West has not tried to co-ordinate various theories but insisted on each one of them. The Indian tradition, however, sees partial truth in all without insisting on any one of them. The attempt has been to co-ordinate them so as to unify them into a whole but without any inconsistency. That is what Manu has done. He says that piety is obedience to the Vedas and Smṛtis, good conduct and dealings with others on equal terms. This is what Jainism has stressed. Its expansive definition is staying in self, forgiveness of ten kinds, 'the three jewels' and the protection of others. The three jewels are right views, knowledge and conduct. All this helps in leading a moral life.

The question has been raised whether ethics is art, science or a part of philosophy. Science is the organized study of a subject. Considered thus, ethics is science, since it is a well-knit study of duty, spiritual upliftment and the highest good of mankind. Muirhead has given three characteristics of science: Proper observation, classification of what is observed and their elucidation. Since this is what ethics does, it must be recognised as science.

Another question is whether ethics is a realistic or idealistic science. Those who take it as a part of sociology or psychology regard

is it as realistic like Economics, Psychology and Law. Those who take it as idealistic say that its function is not to deal with what is, It is really concerned with what should be. It is not factual but value-based.

Science has to do with thought whereas the concern of art is with the thing created. Sukrācārya says that the means of exchanging views and thoughts is science. Art concerns itself with the object of creation.[30] There are those who regard ethics as the art of conduct. Lines and colours make a picture. It is the art of painting. All well-organized systems of producing sound is the art of music. So also the balance and setting of emotions is the art of conduct. Art and science are not wholly discrete. Craft, medical science, architecture and the like are incomplete without being practised. Ethics, whether science or art, has to do with both. Some Westerners like Mackenzie say that Ethics can never be regarded as an art. They say that conduct is a habit, not a skill but art is skill. A righteous man is he whose conduct is unassailable whereas a good artist is one who presents a good picture. One who knows the ins and outs of righteousness need not himself be upright. The perfection of art lies in the finish of the creation whereas conduct has to do with intention.

The Indian tradition disregards Mackenzie's view. Jainism and the Gītā both agree that one who knows moral conduct even without practising it, is righteous. A good man is also tempted sometime, but this does not make him licentious. Ācārānga says that a right man, even though committing no sin, has been regarded as righteous simply because of his keen awarenes of things.[31] This is what the Gītā says, 'Even if the vilest sinner worships Me with exclusive devotion, he should be considered a saint, for he has rightly resolved.'[32] Further, moral life is certainly concerned with good intention, but its ultimate objective is liberation still. It is also Yoga, i.e. union with the universal soul by means of contemplation. In india ethics is a significant art. It is holy. Without holiness all the arts are useless as without iris eyes are of no use.

Ethics is also a part of philosophy. Science is primarily related to real things. As such it is realistic. There are no postulates in philosophy but ethology does have some. If we were to regard also the review of

ethical propositions as an integral part of it, ethics can very well be regarded philosophy. It is, however, no mere playfulness of intellect, since it has very much to do with practical life. Why not take it then as practical philosophy? Those with right views express its philosophical aspect; right knowledge its scientific aspect and right conduct its artistic side. Truly speaking, ethics incorporates science, art and philosophy all together. It is the root of the first three objects of human pursuit, viz. discharge of duty, acquirement of wealth and gratification, It leads to final emancipation.

It will be a mistake to stress any one aspects of ethics to the exclusion of others, though no aspects of any concept can be ignored altogether. Its principal characterstics are : most auspicious, favourable, proper, duty, conduct and the like. Their precise definitions have not been given in India. As such, we have to take rucourse to western definitions but we will certainly examine them in the Indian context.

1. Most auspicious : In the Indian tradition the greatest good is in the complete annihilation of misery and the achievement of undying bliss. It is also in the satisfaction of the soul. In the Jaina tradition it is staying in self. The Gītā calls it attainment of divinity. It admits of no precise definition. Moore also regards it as undescribable.

2. Auspicious : The first one is a spiritual ideal but this one is purely mundane. It is also known as virtue. It is an ideal the aim of which is to do good to others. As such, it may very well be called a social ideal.

3. Concepts of propriety and impropriety:

Their bases are the above two concepts. The conduct that leads to most auspicious or favourable side is proper. What takes it in the wrong direction is improper. Also what is supported by society is proper and waht is opposed by it is improper.

4. Duty : It tells us that it is our responsibility to do something without fail in particular circumstances. It arises in social and intellectual life. It goes with rights one possesses or with intellect.

5. Conduct- It is formed by an individual's habits. It is indicative of what he considers life to be. It is a special mode of leadig one's life.

It forms itself as a result of acquired experience of life, its

vicissitudes and vagary.

All these are in close relation with one another. The highest good is liberation, Virtue and vice express the auspicious-inauspicious; caste-system and the stages of life indicate duties to be observed accordingly.

Man has been pondering over piety, impiety,auspicious-inauspicious, mundane achievement-spiritual welfare for thousands of years. In the West Pythagoras, Socrates, Plato and others were seized with the problem. Later Russell, Moore, Paton cogitated. In the East Rama, Kṛśna, Buddha and Mahāvīra gave serious thought to such problems. In the modern times we had-Tilak and Gāndhī. The East and the West were confronted with such problems, but their view naturally differed. Geographical conditions vary from country to country. In countries where it is difficult for people to make their both ends meet, they have no time and energy to think of other things. Moreover countries have their own traditions which affect people's thinking. There are climatic affects too. Jainism, Buddhism and the Gītā are products of our country and so naturally there are many things common. We give below the special characteristics of their view of life.

1. All sensual experiences are changeable, impermanent and liable to destruction. Jianism, Buddhism and the Gītā all support this view.[33]

2. The body is mortal, but not the soul. Jainism and the Gītā say that the soul is indestructible.[34] Buddhism does not recognise the permanence of the soul, but believe that the flow of consciousness never ceases.

3. Jainism, Buddhism and the Gītā advocate the theory that one has to face the consequences of one's actions-good or bad.[35] This confirms their conviction in re-birth.

4. Transmigration of soul is their common belief.

5. They all agree that good actions lead to heaven and bad ones to hell.[36]

6. Both Jainism and Buddhism assert the misery of human life. This is the first stage of their faith, Buddha terms it as the first Noble Truth. The Danish existentialist Kierkegaard is of the same view.

The world is a vale of misery. The attempt on the part of Buddha, Mahāvīra and others was to show the way to be freed from its shackles. To live in the world and yet above it was the cherished ideal.

7. Mundane achievement is momentary. Pleasure and pain come and go, but this ensures bliss which stays. Bliss is not to be had from outside. It is within us. Attachment and yearning add to our miseries. It is only the detached soul which is blissful. Man has to see it within assiduously.

8. The West has been concerned primarily with the present life now and here, whereas the East has considered morality more in the life beyond. They are not water-tight compartments, since one penetrates the other. The difference lies in their emphasis.

Ethics in India has been less theoretical, for it is essentially practice-based. The Western Ethics is science; the Eastern one is the art of living. That no thought has been given to discussion of theoretical conundrums is a mistaken view. The Indian ethics is spiritual, whereas the Western one is a materialistic. The west has always tried to make their countries prosperous and thriving. Our highest good has been liberation from mundane affairs so as to enter the domain of spirituality. The west has been more concerned with improving social life whereas our main concern has been moral life so as to improve here and hearafter. Bradley and others in the West have quite emphasized realisation of the soul as the summum bonum of life. Likewise we did not quite ignore our living conditions but we knew that hedonism can bing no peace of mind.

Another marked differenec is that we have attended more to personal bliss than societal amelioration, even though man and society are inseparable. Mahāyāna Bauddhs riveted their full attention to society. Likewise in the West Spinoza and Nietzsche have made it markedly person oriented. One-sided views may at best be a nine-days' wonder. It is the holistic view that stays Dr. Radhakrisnana has referred to certain charges levelled against Hindism by Shwestjer. They are as under :

1. Hinduism has stressed emancipation which naturally negates society and the world.

2. It is inevitably ultra-mundane which is contrary to humanity and the world around.

3. The world is an illusion and so the human life is a mirage. Since the world is taken as false, there is no scope for the delineation of social conduct.

4. The origin of the world is the sport of God.

5. The means of emancipation is to realise one's self. As such, it has little to do with morality.

6. It is escapist, not a coordination or even compromise. It is to free oneself from mundane shackles and not to improve the world. It is a subterfuge to avoid the world and its snare. This infuses no hope in mankind.

7. The ideal man is above good and evil.

Let us now take the changes one by one :

(1) The tableland of life has two edges on either side, one which is shallow, incomplete, striving and the other is full to the brim. It strives to make the life whole. Dr. RadhaKrisnan says, "The Hindu takes spiritually as the foundation stone of his life, Self-realization is no miraculous solution to the problems of life. It is only an humble attempt to attain perfection by degrees.[37] Jainism regards liberation as the full development of numerous energies of consciousness which is never segregated from life. Mahāvīra says that morality is very much related to life. A pious life and moral perfection which gives rise to idealism are very much part of life itself. Man must strive so long as disease do not assail him and old age does not disable him.[38]

So long as there is life, good qualities should be cultivated. So long as one is healthy; old age is far off, all his senses function satisfactorily[2],a wise man should strive for equanimity of the highest good and make the best of his life. It is the consciousness of perfection that awakenes the strong desire not only to make up the deficiency but also to strengthen his spirit.

The second charge is no less erroneous. We have pondered over the ultra-mundane reality because we are not mere bodies. Two of the four pursuits of human endeavour pertain to this very life, but will all amenities satisfy our spirit? Jainism and Buddhism's emaphasis on

non-violence, non-insistence, non-possessiveness is far more concerned with the life that we lead, when the *Gītā* expatiates on the stages of life or caste-system or doing one's duty, unmindful of the fruit, it is all this life. Jainism asserts that the observance of conduct is neither for this life nor beyond. The wise man is one who acres neither for the past nor dreams of the future.[3] Morality based on fear or temptation, for heaven or hell , is not real. It is fake. It only appers to be real. The *Gītā* says categorically, "Wise men do not sorrow over the dead or the living." So says Buddha, 'Such queit hermits, as grieve not over the past and do not build castles in the air are ever contented and happy.[5] In the East what austerities are practised for the next world are considere binding. Heaven and hell have been picturized for the common man as for also the illiterate. This too, is to enable them to tread the righteous path. The Gītā makes it clearer still, ' Four types of virtuous men worship Me; the seeker of worldly objects, the sufferer, the seeker of knowledge and the man of wisdom. Of these the best is the man of wisdom, constantly established in identity with Me and possessed of exclusive devotion.' Buddha was affected by suffering and death and so he was determined to make the maximum use of his time to lessen the ills of life.

If man were to imitate Nature, what need is there for altruism and self-sacrifice? Mere physical basis does not encompass human life. If even the richest people are not happy, it is clear that the world has never satisfied kings, emperors and the laity.

Since pure love and detachment are our ideal, the root of our morality should be fixed deep below where nothing is visible. Our good is not confined to this world. We can rise only when we alsways try to transcend our limitations and rise higher still on the spiritual plane.

The third charge is that we take the world as false. Firstly, Śankara alone is not the representative. Philosophers of India and he also meant that the world for each man is evanescent and that man goes empty-handed, Jainism, Buddhsim and the Gītā cannever be taken as supporters of the falsity of the world : Jainism is admittedly realistie. In the Buddhistic tradition also, but for its nihilism and the idealism. The actual life ahs been accepted without any reservation. The

metaphysics of the Gītā also makes nonsense of this allegation.

The fourth charge is that the world is God'a sport. It certainly gives credenece to fatalism which denies any moral responsibility. The Gītā may seem to support it but the charge does nor stick to Jainism and Buddhism.

The fifth charge is that in the Indian tradition knowledge has been accorded the prime place and that conduct or morality has been relegated to the background. Also that self-realization has been supposed to be the means of liberation. But action, contemplation and devotion have also been regarded as equally helpful in attaining emancipation. Along with intellect, morality has no less been emphasized. Jainism and Buddhism have accored the very same place to conduct. Likewise the Gītā has not ignore the importance of conduct. As such the charge is baseless.

The sixth charge is of escapism which is the consequence of ignorance on the part of the critic. The Vedas and Upaniṣads proclaim at the top of their voice thet they should meet, walk, talk and eat together The Jaina congregation is the proof positive or corporate life. The attempt has been to ennoble life by renouncing selfishness, greed, indignation and the like. It is to transgress artificial limitations to scale desirable heights. The body is an important means of spiritual development. Dr. Ṛādhākṛṣnan rightly says that sound mind is invariably in a sound body. Man's aim in life is not merely to eat, drink and be merry. He has to rise above the beastly level to justify his existence. Even in bondage we strive assiduously to free ourselves from constricting restrictions. The body is deṣtined to perish but the soul knows no death. A single life may not be sufficient to approch the ideal or self-realization. Indirectly, the succession of lives is designed to reach nearer the goal. The desire of the moth for the star is not escapism nor a denial of life.

The seventh charge is that the ideal person is he who should have transcended good and evil, virtue and sin. Truly speaking, in the struggle of life there is too much of conflict, tumult and uproar. Who does not suffer the ups and downs of life? When the world is too much with us, we are so much involved in mundane affairs that it becomes difficult to extricate ourselves from it. When the world is ever in our

minds, the mental powers are necessarily emaciated. To become one of the crowd is a mean life which nobody laments. Bradely has clarified it. To be wholly moral, even though in mud the aspirant has to be above it like the lotus plant. To translate the ideal into practice the mundane baggage has to be discarded-Jainism syas that virtues and sins both bind. In Bondage there is no freedom. It is incumbent on man to break the shackles and make his life truly memorable. So says Buddhism. Virtue and sin, goodness and badness are caused by our ego, attachment and pride. These are limitations to be overcome, but the condition is that there should be no rancour. In India it has been recognised full well that the taste of sugar is known because of salt. Virtue that is cloistered and fearful is no achievement. One cannot be moral overnight. It requires strong will, perseverance, steadfastness and firmness that makes us stand in good stead. A disciplined life alone can proceed apace, leaving the teeming multitude behind. Our culture signifies the welfare of one and all. Ours is the concept of world brotherhood which is beyond the pale of politicians. The Indian view had never been lopsided. We have always tried to coordinate view inorder to reach a happy compromise. Jainism views all angles pros-and-cons of all things without which there will be conflict and strife. Non-absolutism has been its pillar which has never failed mankind.

Reference :

1. *Uttarādhyanacrṇi*; 3.
2. *Hitopadeśa*; 25.
3. *Ācārañga*, 1/114; Dasavaikalika. 417.
4. *Gīta*, 2/6-8.
5. *Ācārānganiryukti*; 219.
6. *Mūlācāra*, 202.
7. *Uttarādhyayana*, 28/11.
8. *Ācārānganiryukti*, 189.
9. *Gītā*, 3/5.
10. *Visuddhimagga*, qutoed in Buddha and other Philosophies Part I, p.511
11. See *Nītī Pravesikā*. P.-21.

12. *Daśavaikālika*. 4/10.
13. *Darśanāpahuḍā* ,16.
14. *Gītā*. 4/17.
15. *Mahābharāta* quloed in "The Survey of Ethics". 360.
16. *Sūtrkṛtānga*. 1/12/8.
17. *Gītā* ,18/68-73.
18. *Uttarādhyayana* . 29/59.
19. The theory of Good and Evil. P. 19.
20. *Mīmānsādarśana*, 1/1/2.
21. *Pravacanasāra*, 1/1/2.
22. *Manusmṛti*; 2/208.
23. *Dasavaikālika*, 1/1.
24. *Daśvailkālikaniryukti*, 244.
25. *Kathāpaniśhad* , 2/12.
26. *Amolasūkti Ratnākara*, p 27.
27. *Abhidhānrājendrakośa*, Part IV; P-2663.
28. Ibid, P.- 2669.
29. Quoted in Survey of Ethics, P-6.
30. Śukranīti, 4/65.
31. *Ācārānga*,1/3/2.
32. *Gītā*, 9/30.
33. *Bhāvapahuda*, 110.
34. *Niyamasāra* 102; *Gītā* 2/20; *Dhammapada* 127
35. *Sūtrakṛtāṅga* 2/114; *Gītā* 5/15.
36. *Sūtrakṛtāṅga* 2/5/12 24; *Gītā* 2/37;16/6; *Anguttaranikāya* 2/3/7-8.
37. Indian Thought and its development quoted from *Prācya Dharma* and Pāscātya Vicāra, P- 94.
38. *Daśavaikālika*, 8/34.

साहित्य सत्कार

भारतीय तत्त्वज्ञान : केटलीक समस्या (गुजराती) लेखक - डॉ० नगीन जी० शाह; संस्कृति संस्कृत ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक ५; प्रकाशक - डॉ० जागृति दिलीप सेठ, बी-१४; देवदर्शन फ्लैट; नेहरूनगर, चार रास्ता; अंबावाडी, अहमदाबाद ३८००१५, प्रथम संस्करण १९९८ ई०, आकार-डिमाई; पृष्ठ ८+१८४; मूल्य ९९ रूपये मात्र.

डॉ० नगीन जी० शाह भारतीय धर्मदर्शन के शीर्षस्थ विद्वानों में एक हैं। धर्म और दर्शन के क्षेत्र में उनकें योगदान से विद्वद्जगत भली भांति सुपरिचित है। प्रस्तुत पुस्तक में उन्होंने सत्-असत्, भारतीय दर्शनों में मोक्ष विचार, कर्म और पुनर्जन्म, भारतीय दर्शनों में ईश्वर की अवधारणा, ज्ञानविषयक समस्याओं का सामान्य परिचय आदि महत्त्वपूर्ण दार्शनिक विषयों पर गम्भीर चर्चा की है। उक्त विषयों पर प्रारम्भ से ही भारतीय दर्शनों में मतभेद रहा है। दर्शन ऐसे गूढ़ विषय से सम्बन्धित समस्याओं को सरल एवं संक्षिप्त भाषा में प्रस्तुत कर उन्होंने सराहनीय कार्य किया है। पुस्तक का सज्जा आकर्षक तथा मुद्रण त्रुटिरहित एवं सुन्दर है। भारतीय दर्शन के शोधार्थियों और गंभीर अध्येताओं दोनों के लिए यह पुस्तक समान रूप से उपयोगी है।

Essays In Indian Philosophy - लेखक - डॉ० नगीन जी० शाह०; संस्कृति संस्कृत ग्रन्थमाला; ग्रन्थांक ६; प्रकाशक - पूर्वोक्त; प्रथम संस्करण १९९८ ई०; आकार-डिमाई, पृष्ठ ८+१५२; मूल्य - १२०/- रूपये मात्र.

प्रस्तुत पुस्तक में विद्वान् लेखक द्वारा भारतीय दर्शन से सम्बन्धित समस्याओं पर आंग्ल भाषा में लिखे गये ९ लेखों का संकलन है। प्रथम लेख में काल की प्रकृति पर भारतीय एवं पाश्चात्य विचारकों के मन्तव्यों का विवरण है। इसी क्रम में उन्होंने जैन दर्शन में काल के सम्बन्ध में प्रचलित मान्यताओं की भी सविस्तार चर्चा करते हुए उनकी समीक्षा प्रस्तुत की है। द्वितीय लेख में जैन परम्परा में आकाश की प्रचलित अवधारणा की व्याख्या की गयी है साथ ही उन्होंने इस सम्बन्ध में कुछ रोचक प्रश्न उठाये हैं और उनका समाधान भी प्रस्तुत किया है। तृतीय लेख के अन्तर्गत उन्होंने बौद्ध परम्परा में प्रचलित 'निर्वाण' की सविस्तार चर्चा करते हुए सदेहमुक्ति और विदेहमुक्ति का भी विवेचन किया है। एक ही शब्द भिन्न-भिन्न दार्शनिक परम्पराओं में भिन्न-भिन्न अर्थों में व्यवहृत होने के कारण दार्शनिकों में किस तरह भ्रमपूर्ण स्थिति हो जाती है और वे किस प्रकार का भ्रामक निष्कर्ष निकालने लगते हैं, इस बात का इस लेख में विस्तृत विवेचन है। इसी प्रकार आगे के लेखों में क्रमश: पातंजल योगदर्शन में ईश्वर के स्वरूप की अवधारणा, प्रारम्भिक न्याय-वैशेषिकों में ईश्वर की अवधारणा, ज्ञान-दर्शन के क्षेत्र में भारतीय दर्शन की समस्यायें, ज्ञान सम्बन्धी धर्मकीर्ति के मन्तव्य तथा भारतीय दर्शनों में व्याप्ति और

प्रमाण के सम्बन्ध में जैन दार्शनिकों के मन्तव्यों की समालोचना प्रस्तुत की गयी है। आंग्ल भाषा में लिखित यह पुस्तक भारतीय दर्शन के अभ्यासियों के लिये अत्यन्त उपयोगी है। ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के प्रणयन और उसके सुरुचिपूर्ण ढंग से निर्दोष मुद्रण के लिए लेखक, मुद्रक और प्रकाशक सभी बधाई के पात्र हैं।

Jaina Philosophy and Religion (मुनि श्री न्यायविजय जी द्वारा प्रणीत **जैन दर्शन** का अंग्रेजी अनुवाद), अनुवादक - प्रो० नगीन जी० शाह; प्रकाशक- मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्रा० लि०; भोगीलाल लहेरचन्द इस्टिट्यूट ऑफ इण्डोलाजी और महत्तरा साध्वी श्री मृगावती जी फाउंडेशन, दिल्ली; आकार-रायल अठपेजी; पृष्ठ २५+४६९; प्रथम अंग्रेजी संस्करण १९९८ ई०; मूल्य ४५०/- रूपये मात्र।

मुनि न्यायविजय जी भारतीय दर्शन के मूर्धन्य विद्वान् थे। उनके द्वारा लिखी गयी विभिन्न महत्त्वपूर्ण कृतियों में **जैन दर्शन** सर्वाधिक लोकप्रिय है। इस ग्रन्थ में उन्होंने जैन धर्म-दर्शन के सभी पक्षों पर सम्प्रदाय निरपेक्ष दृष्टि से सविस्तार प्रकाश डाला है। वस्तुत: यह ग्रन्थ मुनिश्री की असाधारण विद्वत्ता का परिचायक है और उनके द्वारा विश्व को दिया गया एक अमूल्य रत्न है। अब तक इस ग्रन्थ के गुजराती भाषा में १२ संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं जो इसकी लोकप्रियता और इसके व्यापक प्रचार-प्रसार का ज्वलन्त उदाहरण है। संस्कृत साहित्य और भारतीय दर्शन के विश्वविख्यात् विद्वान् प्रो० नगीन जी० शाह द्वारा किया गया इस ग्रन्थ का अंग्रेजी अनुवाद वस्तुत: मणि-कांचन संयोग है और अब निश्चय ही इस प्रामाणिक ग्रन्थ का विश्वव्यापी प्रचार-प्रसार होगा। इस ग्रन्थ की महत्ता के बारे में कुछ कहना वस्तुत: सूर्य को दीपक दिखलाने के समान है। ऐसा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रत्येक पुस्तकालय के लिये अनिवार्य रूप से संग्रहणीय है। ऐसे प्रामाणिक और लोकप्रिय ग्रन्थ के अनुवाद और प्रकाशन के लिए अनुवादक और प्रकाशक संस्था दोनों ही वंदनीय हैं।

महाकवि जयशेखर सूरि, भाग १-२; लेखिका - साध्वी मोक्षगुणा श्री जी० म० सा०; प्रकाशक - आर्य जयकल्याण केन्द्र, मेघरत्न अपार्टमेन्ट, पहला माला, गुणसागरसूरि मेघ संस्कृति भवन; देरासर लेन; घाटकोपर (पूर्व) मुम्बई ४०००७७; प्रथम संस्करण १९९१; पृष्ठ २०+४९२; भाग २, पृष्ठ २०+४९४; मूल्य-प्रत्येक भाग ५० रूपये.

खरतरगच्छ और तपागच्छ की भांति अंचलगच्छ भी एक जीवन्त गच्छ है। इस गच्छ में अनेक प्रभावशाली एवं विद्वान् रचनाकार मुनि हुए हैं, जिनमें विक्रम सम्वत् की १५वीं शती में हुए आचार्य जयशेखर सूरि का नाम अत्यन्त आदर के साथ लिया जाता है। प्रस्तुत पुस्तक साध्वी मोक्षगुणा श्री द्वारा लिखे गये शोधप्रबन्ध का मुद्रित रूप है जिस

पर उन्हें मुम्बई विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई थी। ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में प्राचीन एवं मध्यकालीन जैन साहित्य का संक्षिप्त विवेचन है। द्वितीय अध्याय में भगवान् महावीर की परम्परा, अंचलगच्छ की पट्टावली तथा इस गच्छ के साहित्य पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। तृतीय अध्याय में २६ पृष्ठों में रचनाकार के सम्बन्ध में प्रकाश डाला गया है। चतुर्थ अध्याय में उनके द्वारा रचित **उपदेशचिन्तामणि**, पाचवें अध्याय में, **प्रबोधचिन्तामणि**, छठें में **धम्मिलचरित**, ७ वें में **जैन कुमार संभव**, ८ वें में **त्रिभुवनदीपक प्रबन्ध** (मूल-पाठ), उसकी समालोचना और कथावस्तु, ९वें अध्याय में **नेमिनाथफागकाव्य** का विवेचन है। १०वें और ११ वें अध्याय में उनके द्वारा रचित अन्य कृतियों का विवेचन किया गया है। ग्रन्थ के अन्त में परिशिष्ट तथा संदर्भग्रन्थ सूची भी दी गयी है, जिससे इसका महत्त्व और भी बढ़ जाता है। डॉ० रमणलाल सी० शाह के मार्गदर्शन में लिखा गया यह विशाल शोधप्रबन्ध साध्वी जी के द्वारा किये गये अथक परिश्रम का प्रतिफल है। यह ग्रन्थ जैन धर्म-दर्शन और साहित्य के शोधार्थियों के लिए अत्यन्त उपयोगी है। लगभग एक हजार पृष्ठों के ग्रन्थ का मूल्य मात्र सौ रूपया रखना प्रकाशक की उदारता का परिचायक है। ऐसे प्रामाणिक और उपयोगी ग्रन्थ प्रणयन और उसके प्रकाशन के लिये लेखिका और प्रकाशक दोनों ही अभिनन्दनीय हैं।

आनन्दघन चौबीसी (विवेचन), विवेचकार - श्रीपन्नालाल वनेचंद भंडारी; प्रकाशक - श्रीमनोहर पन्नालाल भंडारी, १७२/१७; विसनजी नगर; जलगांव २२०४०७; पृष्ठ ८+३१८; मूल्य - ७५/- रूपये मात्र.

महान् आध्यात्मिक संत योगिराज श्री आनन्दघन जी १७वीं शताब्दी की महान् विभूति थे। उनके जन्म स्थान, माता-पिता आदि के बारे में कोई जानकारी नहीं मिलती। इसी प्रकार वे खरतरगच्छ में दीक्षित हुए थे अथवा तपागच्छ में, इस सम्बन्ध में भी ठीक-ठीक कुछ भी कह पाना कठिन है। इनके द्वारा रची गयी विभिन्न कृतियाँ मिलती हैं जिनमें **आनंदघन बहोत्तरी** और **आनन्दघन चौबीसी** प्रमुख हैं। **बहोत्तरी** में इन्होंने, कबीर, मीरा, सूरदास, तुलसीदास, रविदास आदि सन्त कवियों की भांति मुक्तक पदों की रचना की है। इसके सभी पद गेय हैं और ये सभी राग-रागनियों के अन्तर्गत ही रचित हैं। ये पद भक्तिपरक, शृंगार एवं विरह-मिलन सम्बन्धी, अध्यात्म दर्शन, योग और उपदेशात्मक हैं। एक स्थान पर वे कहते हैं -

"ना हम पुरुष, ना हम नारी, वरनन भांति हमारी ।
जाति न पांति, न साधु न साधक, ना हम लघु ना भारी ॥"

चौबीसी के अन्तर्गत भी उन्होंने उक्त विषयों का ही प्रमुखता से वर्णन किया है। वस्तुतः उनके द्वारा रचित यह चौबीसी न केवल जैन बल्कि भारतीय भक्ति साहित्य की अमूल्य निधि है। श्रावकरत्न श्री पन्नालाल जी भंडारी ने प्रस्तुत पुस्तक में प्रत्येक स्तवनों

के प्रत्येक चौपाइयों का अलग-अलग अर्थ और उनका अत्यन्त सरल भाषा में विस्तृत विवेचन किया है जिससे जनसामान्य भी भली-भाँति समझ सकता है और उन पर मनन कर सकता है। इस पुस्तक को तैयार करने में भंडारी जी ने न केवल अथक परिश्रम किया है बल्कि उसे प्रकाशित कराके अल्प मूल्य पर पाठकों को भी उपलब्ध कराया है। ऐसे सुन्दर और लोकहितकारी ग्रन्थ के प्रणयन और प्रकाशन के लिए श्री भंडारी जी को हार्दिक बधाई।

हिन्दीसाहित्य की सन्तकाव्य परम्परा के परिप्रेक्ष्य में आचार्य विद्यासागर के कृतित्व का अनुशीलन -लेखक : डॉ० बारेलाल जैन, पृष्ठ २४+२५४; आकार-डिमाई; प्रकाशक- श्रीनिर्ग्रन्थ साहित्य प्रकाशन समिति, पी-४, कलाकार स्ट्रीट, कलकत्ता ७००००७; प्रथम संस्करण, १९९८ ई०; मूल्य ४५ रूपये मात्र.

आचार्य विद्यासागर जी इस युग के महान् सन्त कवि हैं। उनकी लेखनी से विभिन्न मौलिक कृतियों का जन्म हुआ है। आचार्य श्री के कृतित्व पर लिखा गया यह प्रथम शोध प्रबन्ध है जिस पर श्री बारेलाल जैन को अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय, रीवा से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई है। प्रस्तुत पुस्तक इसी शोध प्रबन्ध का मुद्रित रूप है। यह पुस्तक नौ अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में सन्तकाव्य की लम्बी परम्परा में आचार्य विद्यासागर के स्थान को निर्धारित किया गया है। दूसरे अध्याय में आचार्य श्री के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालते हुए उनके जीवन-सूत्रों को क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत किया गया है। तृतीय अध्याय में आचार्य श्री की रचनाओं का विवरण है। चतुर्थ अध्याय में हिन्दी की संतकाव्य परम्परा के संदर्भ में आचार्य श्री की रचनाओं का मूल्यांकन किया गया है। पांचवें अध्याय में सन्तकवियों की भावभूमि को स्पष्ट करते हुए आचार्य श्री के साहित्य में वर्णित विभिन्न पहलुओं की विवेचना है। छठें अध्याय में आचार्य श्री के साहित्य में वर्णित कलापक्ष का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। सातवें अध्याय में आचार्य श्री की स्फुट और अद्यावधि-अप्रकाशित कृतियों का परिचय एवं उनका मूल्यांकन है। आठवें अध्याय में आचार्य श्री द्वारा अपने ग्रन्थों में किये गये सामाजिक व धार्मिक परिवर्तनों की स्थिति की चर्चा है। अंतिम अध्याय आचार्य श्री के समग्र साहित्य का सार है। अन्त में एक महत्त्वपूर्ण परिशिष्ट भी है जिसके अन्तर्गत आचार्य श्री के मूलग्रन्थों के साथ-साथ हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और अंग्रेजी ग्रन्थों एवं पत्र-पत्रिकाओं की सूची भी दी गयी है।

पुस्तक की साज-सज्जा अत्यन्त आकर्षक, निर्दोष मुद्रण एवं पक्के जिल्दों में होने के बाद भी इसका मूल्य अत्यधिक कम रखा गया हैं जो प्रकाशक और इसके लिए अर्थ सहयोगी श्रावक की उदारता का परिचायक है। ऐसे महत्त्वपूर्ण पुस्तक के प्रणयन, इसके प्रकाशन और अल्प मूल्य में वितरण के लिए लेखक, प्रकाशक तथा अर्थ सहयोगी बधाई के पात्र हैं।

आत्मान्वेषी : (आचार्य विद्यासागर का जीवन चरित्र) लेखक : मुनि क्षमासागर, प्रकाशक- विद्या प्रकाशन मंदिर, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण १९९८ ई०, पृष्ठ १२०; आकार-डिमाई, मूल्य ३० रुपये.

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक आचार्य श्री विद्यासागर जी के अन्तेवासी प्रबुद्ध लेखक मुनि क्षमासागर जी हैं। इसमें उन्होंने अपने गुरु आचार्यश्री की जीवन गाथा को उनकी मां के मुख से वर्णित कराया है। इस पुस्तक की लेखन शैली ऐसी है कि मानों उनकी माता ही सचमुच अपने यशस्वी पुत्र की जीवनगाथा हमारे समक्ष कह रही हैं और यही लेखक की सफलता का सबसे बड़ा प्रमाण है। चूँकि लेखक आचार्य श्री के अन्तेवासी हैं और उन्हें गुरु के निकट रहने और बहुत कुछ देखने जानने का अवसर मिला है, अत: वे उनके जीवन से सम्बन्धित अनेक प्रेरक घटनाओं के साक्षी रहे हैं। इस पुस्तक में आचार्य श्री के जीवनी के पश्चात् उनसे सम्बन्धित प्रेरक प्रसंगों का संकलन है। सर्वश्रेष्ठ आर्टपेपर पर मुद्रित इस ग्रन्थ का मूल्य ३० रूपया रखने के लिए प्रकाशन में अर्थ सहयोगी श्रावकगण बधाई के पात्र हैं। पुस्तक की साज-सज्जा अत्यन्त आकर्षक तथा मुद्रण कलापूर्ण एवं निर्दोष है। पुस्तक में आचार्य श्री के कई सादे और बहुरंगी चित्र भी हैं, जो इसके महत्त्व को और भी द्विगुणित कर देते हैं। यह पुस्तक सभी के लिए पठनीय और मननीय है।

Jaina Karmology : A Novel Publication : Dr. N. L. Jain, Jaina Kendra, Rewa, Parshvanath Vidyapith, Varanasi 1998; Price Rs. -100/- (P.B.) Rs. 150/- (H.B.) pp - 180.

The PVRI, Varanasi is noted for its high level research and evaluative publications since 1950, which now exceed 110, Jaina Karmology is its recent publication which is the English translation of the Eight chapter of Tattvartha-raja-vartika of Akalanka. Besides the textual translation in question-answer style, the book also contains supplementary notes covering essential features of other commentaries of Tattvarthasutra along with the current view on many topics related with Psychology. Physiology, Sociology and other sciences in the Karma theory. The book emphasizes that Karmology has not only religious orientation but it could be applied to the day-to-day life. It could be expressed in terms of motivation and motives (2) needs or wants (3) transcendence and (4) satisfactory or otherwise representing mostly various forms of depending Karma. The object of life should be presized or psychical tranquility arising out of better thoughts and actions. The Karma theory enhances to minimise sinful Karmas and move more towards sacred Karmas. The introduction of the book is also thought

provoking.

Jaina Karmology is, in fact a compendium of all aspects of the Karma theory, with uniqueness in its critical and comparativelye valuvative approach. It is helped and comparitively evaluative approach. It is hoped that this will be liked by every scholarly and general reader who will realise that is only such book which are needed to day to promote Jainism on global scale.

हिन्दी जैन कथा साहित्य (कथानक रूढ़ियाँ और कथा अभिप्राय) - लेखक - डॉ० सत्य प्रकाश; प्रकाशक - श्री पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मंदिर, सब्जीमंडी, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९९३ ई०; पृष्ठ ४७०; मूल्य : ×.

कथा कहानी दादी नानी की जुबानी हम आदिम काल से सुनते आ रहे हैं। कथा साहित्य की प्राचीनतम विधा है जो हजारों वर्षों तक केवल मौखिक परम्परा में चलती रही, इसी लिए इसमें लोकतत्त्व, लोकरूढ़ियाँ, अभिप्राय, लोकवार्तायें सर्वाधिक प्राप्त होती हैं। सच पूछा जाये तो बिना कथानक, लोकरूढ़ियाँ और अभिप्रायों को समझे कथासाहित्य का अध्ययन कभी पूर्ण हो ही नहीं सकता। इसलिए शोधकर्त्ता ने हिन्दी जैन कथासाहित्य का अध्ययन कथानक रूढ़ियों और अभिप्रायों के साथ गम्भीरता पूर्वक किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में हिन्दी भाषा में वि० सं० की १३वीं शताब्दी से १९ वीं शताब्दी तक रचित जैन कथाओं के अभिप्रायों का अध्ययन ४ अध्यायों में प्रस्तुत किया गया है। अधिकतर कथायें पद्यबद्ध हैं, कुछ गद्य और गद्य-पद्य दोनों में हैं। उपलब्ध-कथाओं की संख्या २६७ है और एक ही कथा को अलग-अलग समय: में विभिन्न लेखकों द्वारा कई बार लिखने से उनकी संख्या बढ़कर ७०५ हो गयी है। इसमें लगभग १५० कथाओं का कथासार है। २७ प्राकृत कथाओं के तथा १० अपभ्रंश की कथाओं के कथारूप भी दिये गये हैं। इसके साथ ही ११२ हिन्दी कथाओं के कथारूप अलग से दिये गये हैं।

कथा, पुराण, चौपाई, रास, प्रबन्ध चाहे जो भी नाम हो या उनमें जो भी सूक्ष्म तात्विक अन्तर हो, पर सर्वत्र एक कथा या कहानी अवश्य रहती है अन्तर केवल अभिव्यंजना शैली का होता है। सबके मूल में कोई छोटी-बड़ी बात तो रहती ही है। यदि कोई कथा न हो तो लेखक या कथाकार क्या कहेगा, इसी लिये बात, वार्ता, कथा, रास, चरित, पुराण सभी का मूलाधार बात या कथा है। इन कथाओं में कथा अभिप्रायों का भरपूर प्रयोग उपलब्ध होता है। यह विधा प्रत्येक युग में मनोरंजक रही है। इस मनोरंकता को उत्पन्न करने वाले तत्त्वों में कथाभिप्रायों का योग मुख्य है। काव्य में प्रयुक्त होने वाली रूढ़ियों को 'कविसमय' कहा जाता है किन्तु विश्व के कथासाहित्य में प्रयुक्त होने वाली कथानक रूढ़ियों को 'कथाभिप्राय' कहा जाता है। कथा में रूढ़ियों का प्रयोग किसी प्रयोजनवश किया जाता है। उसे गतिशील बनाने, नया मोड़ देने या चमत्कार उत्पन्न करने

के लिये कथाभिप्राय का मुख्यप्रयोजन होता है, अत: उनका अध्ययन प्रस्तुत कर के लेखक ने कथा साहित्य के अध्ययन के एक अपेक्षाकृत कम ज्ञात क्षेत्र का क्षितिज विस्तृत किया है और इसके लिये वह साधुवाद का पात्र है।

ग्रन्थ के प्रथम अध्याय (विषय प्रवेश) में उपलब्ध हिन्दी जैन कथा साहित्य का उल्लेख है। द्वितीय अध्याय में हिन्दी जैन कथाओं के लोककथारूप की चर्चा है। तृतीय और चतुर्थ अध्याय लेखक की निष्ठापूर्वक शोधप्रवृत्ति का परिचय प्रस्तुत करते हैं तृतीय अध्याय में जैन साहित्य की प्रमुख कथानक रूढ़ियों का अनुशीलन किया गया है। इसमें लगभग २ हजार कथाभिप्रायों को छांट कर उसमें प्रमुख अभिप्रायों का विश्लेषण किया गया है। यह महत्त्वपूर्ण कार्य अत्यन्त श्रमसाध्य और मौलिक है। चतुर्थ अध्याय कथामानक रूप है। अन्त में परिशिष्ट के प्रारम्भ में २७६ कथाओं की सूची देकर लेखक ने आगे इस क्षेत्र में कार्य करने वाले शोधकर्ताओं के लिये प्रचुर सामग्री प्रदान कर दी है।

यह ग्रन्थ वस्तुत: उपयोगी और प्रामाणिक है। लेखक से अपेक्षा है कि वह भविष्य में इसी प्रकार मानक ग्रन्थों द्वारा जैन वाङ्मय की श्रीवृद्धि करते रहेंगे।

डॉ० शीतकंठ मिश्र
पूर्व प्राचार्य
डी० ए० बी० डिग्री कालेज
वाराणसी।

श्रीजैनमहागीता (विशुद्ध मोक्षमार्ग वचानामृत), लेखक श्री जसकरण डागा, पृष्ठ ५०+३६२; प्रकाशक- श्री जीव दयामण्डल C/o डागा सदन, संघपुरा; पो० टोंक; राजस्थान, आकार- डिमाई, प्रथम संस्करण १९९८; मूल्य २५ रूपया.

प्रस्तुत ग्रन्थ में विद्वान् लेखक ने न केवल श्वेताम्बर और दिगम्बर बल्कि अन्य भारतीय परम्पराओं को भी आधार बनाकर सम्पूर्ण जैनदर्शन व अध्यात्म के उपयोगी प्रसंगों को प्रश्नोत्तर के रूप में खड़ी बोली में उत्यन्त उदार भाव से प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है। पुस्तक सभी के लिए पठनीय और मननीय हैं ग्रन्थ की साजसज्जा आकर्षक और मुद्रण त्रुटिरहित है। ऐसे उपयोगी ग्रन्थ के प्रणयन के लिए लेखक बधाई के पात्र हैं।

ए बी सी ऑफ जैनिज्म : शांतिलाल जैन; प्रकाशक- ज्ञानोदय विद्यापीठ, भोपाल-मध्यप्रदेश, प्रकाशन वर्ष - १९९८ ई० स०; पृष्ठ ५+६९; मूल्य ५० रूपये।

आचार्य विद्यासागर जी महाराज के आचार्य पद प्राप्ति के २५वें वर्ष के उपलक्ष्य में मुनि क्षमासागर की प्रेरणा और उन्हीं के निर्देश में श्री शांतिलाल जैन ने आंग्ल भाषा में इस सुन्दर लघु पुस्तिका की रचना की है। इसमें माता तथा पुत्र-पुत्री के मध्य प्रश्नोत्तर की शैली में जैन धर्म-दर्शन के विविध पहलुओं को बड़े ही सुन्दर ढंग से प्रतिपादित किया

गया है। विदेशों में रहने वाले जैन परिवारों में बच्चों को जैन धर्म-दर्शन के बारे में इस पुस्तक से रोचक सामग्री उन्हीं की भाषा में उपलब्ध करा कर लेखक ने उनका महान् उपकार किया है। सर्वश्रेष्ठ कागज पर अनेक इकरंगे चित्रों के साथ मुद्रित इस लघु पुस्तिका का विदेशों में पर्याप्त प्रसार होगा। ऐसे सुन्दर पुस्तक के प्रकाशन के लिए लेखक और प्रकाशक दोनों ही धन्यवाद के पात्र हैं।

सीताभ्युदयम् - रामजी उपाध्याय, प्रकाशक-भारतीय संस्कृति संस्थानम्, ३५७, महामनापुरी; वाराणसी - २२१००५; प्रथम संस्करण - १९९८; पृष्ठ- १२७, मूल्य ५० रुपये.

आदि कवि वाल्मीकि द्वारा रामायण के प्रणयन और उसमें सीता के निर्दोष चरित्र के बावजूद उसके साथ होनेवाले अन्यायपूर्ण व्यवहार को लेकर पश्चात्वर्ती काव्यधारा में अतिव्यग्रता देखी जा सकती है। रावण-वध के पश्चात् लंका में ही सीता की अग्नि-परीक्षा के बाद भी मात्र लोकापवाद के आधार पर गर्भवती अवस्था में राम द्वारा त्याग कर वन में बेसहारा छुड़वा देने की घटना को बाद के रामभक्त सुधी कविजन गले से नीचे नहीं उतार पाये और यही कारण है कि बाद की रचनाओं में सीता के प्रति किये गये राम के इस अमानवीय कृत्य को उन्होंने भिन्न-भिन्न कल्पनाओं से आवेष्ठित कर मानवीय रूप देने का प्रयास किया। इसी क्रम में यदि भवभूति अपने 'उत्तररामचरितम्' के अन्त में सीता का राम के साथ पुनर्मिलन कराकर राम से मानों अपने कृत्य का प्रायश्चित्त् करवाते दीखते हैं वहीं जैन कवियों ने अपनी रचनाओं (पउमचरिय-विमलसूरि एवं पउमचरियं-स्वयंभू) में सीता त्याग के पश्चात् राम को घोर विलाप और पश्चाताप करते दिखलाया है। रामायण में तो राम द्वारा बार-बार अविश्वास किये जाने और अन्त में भी यह कहे जाने पर कि - "यदि सीता लोक-समुदाय के सम्मुख अपने चरित्र को निष्कलंक प्रमाणित कर दे तो मैं उसे स्वीकार कर सकता हूँ"- सीता राम के प्रति निष्ठा की दुहाई देकर पृथ्वी से शरण मांगती है और तत्काल पृथ्वी से उत्पन्न सिंहासन पर आरूढ़ होकर पाताल को चली जाती है। (वाल्मीकि-रामायण, सर्ग ९७, श्लोक १३-१७)। सोलहवीं शती आते-आते 'तुलसीदास' को यह घटना इतनी अप्रिय लगी कि उन्होंने 'रामचरितमानस' में इसका उल्लेख ही नहीं किया है।

राम-सीता के चारित्रविषयक काव्य परम्परा में शान्त रस में संस्कृत भाषा और साहित्य के मूर्धन्य विद्वान् प्रो० रामजी उपाध्याय लिखित अधुनातम काव्य 'सीताभ्युदयम्' नाटक है। इसमें प्रणेता ने सीता-परित्याग प्रकरण को अपनी कल्पना से एक नया मोड़ देकर उसका लोकचरित्र-निर्माण की दिशा में उपयोग किया है।

अपनी कल्पना के अन्तर्गत नाटककार ने वक्रोक्ति मार्ग अपनाकर सीता-त्याग की घटना को सीता की सहमति से ही एक योजनानुसार स्वयं राम द्वारा सीता के वनवास की व्यवस्था में परिवर्तित कर दिया है। इस वनवास को नैतिक आधार देने के लिए कवि

ने सीता के होने वाले युगलपुत्रों का जन्म-नक्षत्र ब्रह्मा द्वारा 'अभुक्तमूल' नक्षत्र में निर्धारित करवा दिया है। ज्योतिषशास्त्र की मान्यता है कि 'अभुक्तमूल' नक्षत्र में उत्पन्न बालक का बारह वर्ष तक मुखदर्शन कुटुम्ब के सभी लोगों के लिए अनिष्टकारी होता है। स्वयं वशिष्ठ राम और सीता से कहते हैं कि उन बच्चों का लालन-पालन संस्कारादि ऐसे स्थान पर होना चाहिए कि वे सम्बन्धियों की दृष्टि से बचे रहें। (सीताम्युदयम्, प्रथम एवं द्वितीय अंक, पृ० ८,१२)। शायद इसी योजना के आग्रह के चलते उत्पन्न हुए पुत्रद्वय कुश और लव सम्पूर्ण नाटक में अनुपस्थित हैं ताकि सीता भी उन्हें न देख पाये। कथा को इस प्रकार मोड़ दिया गया है कि इसमें कष्ट और असहजता नहीं बल्कि लोकमंगल की भावना प्रतिबिम्बित होती है।

नाटक के प्रथम अंक में प्रस्तावना के बाद ब्रह्मलोक में ब्रह्मा और वशिष्ठ के बीच मंत्रणा होती है। वशिष्ठ ब्रह्मा को भृगु द्वारा विष्णु को दिये उस शाप की याद दिलाते हैं जिसे विष्णु द्वारा भुगु की पत्नी की हत्या कर दिये जाने पर दिया गया। इस शाप के प्रभाव से विष्णु को चिरकाल तक पत्नी-वियोग सहना था। राम विष्णु के अवतार हैं। ब्रह्मा इसे लोकहित में दिया शाप बताते हैं जिसके कारण लंका से वापस आकर राज्यभिषेक के पश्चात् सीता पहले वन में रहकर वाल्मीकि को रामकथा लिखने में सहायता करेंगी और असंस्कृत होते जा रहे पातालवासियों के कल्याण के लिए वरुण और पृथ्वी देवी के निर्देशन में वहाँ जाकर रामचरित का प्रचार कर उन्हें सुसंस्कृत पथ पर लगायेंगी। द्वितीय अंक में ब्रह्मा की योजना को वशिष्ठ स्वयं के दर्शनार्थ आश्रम में आये सीता और राम को समझाते हैं। सीता इस योजना को सुनकर प्रफुल्लित होती हैं। तृतीय अंक में तमसा तट पर अवस्थित वाल्मीकि के आश्रम में राम, सीता के साथ आकर मुनि से सीता की परिस्थिति बताकर उसके आश्रम में निवास की याचना करते हैं। वाल्मीकि इस प्रस्ताव को स्वीकार कर राम को यह रहस्य बताते हैं कि वे और सीता दोनों पृथ्वी की ही सन्तान हैं और सलिलेश्वर नाग सम्राट वरुण ने ही उन दोनों को पातालवासियों में आर्य-जीवन शैली को प्रचारित करने के लिए भारत में रहकर आर्य-जीवन-दर्शन को आत्मसात करने का आदेश दिया है। अब सीता उन्हें रामचरित लिखने में सहायता करेंगी। चतुर्थ अंक में आश्रम में सीता की दिनचर्या का वर्णन है। सीता के आश्रमवास की अवधि पूर्ण हो गयी है और रामायण भी पूर्ण हो चुका है। वह गंगा से यह वर मांगती हैं कि "अब अन्यत्र जहाँ कहीं रहूँ, मुझे मानवता को चारित्रिक दृष्टि से पवित्र बनाने की अपनी प्रवृत्तियों में सफलता प्रदान करें।" (सीताभ्युदयम्, आमुख, पृ० ८)। पंचम अंक में वरुणलोक में सम्राट वरुण पातालवासियों द्वारा अपने पूर्वजों का आदर्श और सनातन संस्कृति भूलकर कामवर्ग में आसक्त होने पर अपनी व्यथा और चिन्ता पृथ्वी को सुनाते हैं। तभी नारद आकर उन्हें सूचित करते हैं कि सीता अपनी महाशक्ति से सभी लोकों को सर्वोदय पथ पर बढ़ा चुकी हैं। ब्रह्मा का यह संदेश वे सुनाने आये हैं। इस पर पृथ्वी सीता के जीवन के दारुण दुःख और वियोग

से दुःखी होकर नारद पर व्यंग्यवाणों का बौछार करती है तथा यह पूछती है कि ब्रह्मा उसकी पुत्री उसे कब वापस कर रहे हैं। नारद सांत्वना देकर चले जाते हैं। इसके पश्चात् प्रवेशक में वैखानस वाल्मीकि, सीता और राम के अभिनंदनार्थ आये अतिथियों के स्वागत-व्यवस्था की सूचना देता है। सीता अब जाने वाली है इसकी चर्चा भी है। षष्ट अंक में मातृभूमि की वंदना के पश्चात् वरुण राम से सीता को पाताल लोक जाने देने का निवेदन करते हैं जिसे राम लोक हित में स्वीकार कर लेते हैं और वाल्मीकि विद्यापीठ का रसातल में स्थानान्तरण होता है। नाटककार ने आरम्भ में विस्तृत 'आमुख' लिखकर विषय को स्पष्ट करते हुए विभिन्न ग्रन्थों का संदर्भ देकर वृहत्तर भारत में सम्मिलित लंका और बंगाल की खाड़ी के हिन्द-प्रशान्त महासागर में अवस्थित द्वीपों को पाताललोक सिद्ध किया है। विदित है कि इस क्षेत्र के द्वीप-देशों में भारतीय साम्राज्य इतिहास में विद्यमान रहे हैं जिन्हें वृहत्तर भारत के नाम से जाना जाता है। भारतीय संस्कृति का विस्तार इन देशों में जो हुआ, वह अभी तक विद्यमान है, यहाँ बड़ी संख्या में भारतीय देवी-देवताओं के मंदिर हैं तथा पुराण कथाएं लोक-प्रचारित हैं। कंबोडिया का विश्वप्रसिद्ध अंकोरवाट मंदिर इसी शृंखला में है। बोर्नियो का सम्बन्ध वरुण के राज्य से जोड़ा जाता है। "तो सुनिये! भारत के दक्षिण-पूर्व दिशा में सीमान्त-प्रदेश के महासागर में बहुतेरे द्वीप हैं जिनके सम्राट राजराजेश्वर वरुण हैं। वरुण नागलोक के सम्राट हैं।" (सीताभ्युदयम्, तृतीय अंक, पृ० १६)

नाटक के पंचम अंक में पुत्री सीता के दुःख के लिए माता पृथ्वी की चिन्ता तो समझ में आती है, पर सीता के अपने पतिगृह से वापस बुलाने की पृथ्वी की व्याकुलता समझ में नहीं आती। भारतीय संस्कृति की यह धारणा है कि कन्या पिता कुल में पति की धरोहर है, तथा उसका सर्वमंगल पति के साथ रहने में ही है। (अभिज्ञानशाकुन्तलम् ४-२२) कालिदास के 'कण्व' जहाँ शकुन्तला को विपत्ति की आशंका के बावजूद पति के साथ उसके रहने में ही उसका मंगल मानते हैं वहाँ पृथ्वी का सीता के वापस आने में हो रही देर के कारण नारद पर उत्तेजित होना अटपटा सा लगता है। नाटक में यद्यपि निम्न श्रेणी के पात्रों का अभाव है फिर भी स्त्री पात्र और वैखानस मौजूद हैं। नाट्यशास्त्र के अनुसार स्त्री पात्रों की भाषा प्राकृत होनी चाहिए, वहाँ प्रस्तुत नाटक में पृथ्वी, सीता और सीता की सहायक सखियों की भाषा संस्कृत रखना नाट्यशास्त्र के अनुरूप नहीं है। भवभूति के नाटक उत्तररामचरित में भी सीता शौरसेनी प्राकृत में ही बात करती हैं। सीताभ्युदयम् में प्राकृत का अभाव खटकता है। उत्तररामचरितम् की तरह ही इसमें भी विदूषक की अनुपस्थिति नाटक की गम्भीरता को व्यक्त करता है।

-अतुल कुमार प्र०सिंह
शोध-छात्र
जैन-बौद्ध दर्शन विभाग ,
का०हि०वि०वि०, वाराणसी

श्रमण महावीर का कैवल्योपलब्धि स्थल - कुम्भारिया (जम्भिया) (एक तथ्यपरक संभावना) लेखक - डॉ० एम० एल० बोहरा, रिटायर्ड एसोसिएट प्रोफेसर, के ४/५, शिवाजी नगर, जालौर; प्रकाशन वर्ष १९९९ई०, पृष्ठ १६, आकार- डबल डिमाई; मूल्य -

प्रस्तुत पुस्तक में विद्वान् लेखक ने महावीर के कैवल्य प्राप्ति स्थान ऋजुवालिका नदी के तट और उसके निकट स्थित जम्भिय ग्राम को राजस्थान प्रान्त में स्थित कुम्भारिया और ऋजुवालिका नदी को वहीं निकट में बह रही झुंफाली नदी से समीकृत किया है। इस सम्बन्ध में उन्होंने पर्याप्त विवेचन कर अपने तर्क उपस्थित किये हैं। उनका स्पष्ट कथन है कि महावीर के जीवन से सम्बन्धित स्थलों को मात्र मगध और उसके आसपास ही खोजने की प्रवृत्ति रही है, जब कि उनसे सम्बन्धित अनेक स्थल पश्चिम भारत में अवस्थित हैं। लेखक के विचारों से हम कितनी सहमति रखते हैं यह अलग विषय है किन्तु उनके तर्कों से हमें इस सम्बन्ध में एक नवीन दृष्टि मिलती है, इसमें संदेह नहीं है। ऐसे शोध-परक तथ्यों के संकलन एवं प्रकाशन के लिये डॉ० बोहरा बधाई के पात्र हैं।

मुनिसुव्रतकाव्यम् : सम्पादक और अनुवादक - प्रो० सुदर्शन लाल जैन; प्रकाशक - सिंघई टोडरमल जैन C/o स्वास्तिक लाइम इण्डस्ट्रीज, शिवधाम, स्टेशन रोड, कटनी-मध्यप्रदेश ४८३५०१; प्रथम संस्करण १९९७ ई०, आकार - डिमाई; पृष्ठ ३४०; मूल्य २०० रूपये मात्र.

महाकवि अर्हद्दास कृत **मुनिसुव्रतकाव्यम्** का सर्वप्रथम प्रकाशन जैन सिद्धान्त भवन, आरा (बिहार प्रान्त) से १९२९ ई० में हुआ था। उक्त ग्रन्थ लम्बे समय से अनुपलब्ध था, साथ ही साथ उसमें अनेक त्रुटियां भी थीं अत: सिंघई टोडरमल जी के आग्रह पर जैन विद्या के लब्ध प्रतिष्ठित विद्वान् और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के पूर्व अध्यक्ष प्रो० सुदर्शन लाल जैन ने अत्यन्त श्रमपूर्वक न केवल इस ग्रन्थ का नये सिरे से सम्पादन किया बल्कि उसकी संस्कृत टीका और हिन्दी अनुवाद भी प्रस्तुत किया है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में उन्होंने ५१ पृष्ठों की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना भी लिखी है, जो उनकी असाधारण विद्वत्ता का परिचायक है। इसमें उन्होंने जैन संस्कृत काव्य साहित्य, प्रमुख संस्कृत काव्य और काव्यकार तथा मुनिसुव्रतकाव्य के रचनाकार का विस्तृत परिचय देते हुए उक्त काव्य के कथावस्तु, काव्यरचना का हेतु, मुनिसुव्रत महाकाव्य का महाकाव्यत्व, छंद योजना, अलंकार योजना, भाषा, चरित्रचित्रण आदि की भी सविस्तार चर्चा की है। इसके पश्चात् मूलकाव्य, उसकी संस्कृत टीका और उसके नीचे हिन्दी अनुवाद भी दिया गया है। अंत में परिशिष्ट के अन्तर्गत पद्यानुक्रमणिका भी दी गयी है जिससे पुस्तक का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। सम्पादक महोदय द्वारा प्रस्तावना में दी गयी कुछ बातें अवश्य संशोधनीय हैं, जैसे पृष्ठ ३२ पर **जयन्तविजयमहाकाव्य** के रचनाकार अभयदेव सूरि

को चन्द्रगच्छीय जिनेश्वर सूरि का शिष्य बताया गया है जबकि उनके गुरु का नाम विजयचन्द्र सूरि था और वे खरतरगच्छ से अलग हुई शाखा रुद्रपल्लीयगच्छ के थे। **जयन्तविजयकाव्य** की प्रशस्ति में इन्होंने अपनी विस्तृत गुरु-परम्परा दी है, जो इस प्रकार है :

वर्धमान सूरि
|
जिनेश्वर सूरि
|
अभयदेव सूरि 'प्रथम' (नवाङ्गीटीकाकार)
|
जिनवल्लभ सूरि
|
जिनशेखर सूरि (रुद्रपल्लीयगच्छ के आदिपुरुष)
|
पद्मचन्द्र सूरि
|
विजयचन्द्र सूरि
|
अभयदेव सूरि 'द्वितीय' (वि० सं० १२७८ में **जयन्तविजयकाव्य** के रचनाकार)

इस प्रकार **जयन्तविजयमहाकाव्य** के कर्ता अभयदेव सूरि और जिनेश्वर सूरि के शिष्य नवाङ्गीवृत्तिकार अभयदेव सूरि के मध्य ५ पीढ़ियों का अन्तर स्पष्ट है। साथ ही साथ वर्धमान सूरि, उनके शिष्य जिनेश्वर सूरि और प्रशिष्य अभयदेव सूरि (नवाङ्गीवृत्तिकार) चन्द्रगच्छ के नहीं अपितु चन्द्रकुल के थे और यही चन्द्रकुल ही आगे चलकर चन्द्रगच्छ के रूप में विख्यात् हुआ। अभयदेव सूरि के प्रशिष्य और जिनवल्लभ सूरि के शिष्य जिनशेखर सूरि से खरतरगच्छ की एक उपशाखा-रुद्रपल्लीयगच्छ अस्तित्त्व में आयी। इसी परम्परा में **जयन्तविजयकाव्य** के कर्ता उक्त अभयदेव सूरि 'द्वितीय' हुए।

इसी प्रकार पृष्ठ ३५ पर **श्रेणिकचरित** के रचनाकार जिनप्रभ सूरि को लघुखरतरगच्छीय तथा उनके गुरु जिनसिंह सूरि को चन्द्रगच्छीय बतलाया गया है जबकि जिनसिंह सूरि चन्द्रगच्छीय नहीं अपितु खरतरगच्छीय थे और उन्हीं से खरतरगच्छ की एक नई उपशाखा (खरतरगच्छ-लघुशाखा) अस्तित्त्व में आयी थी।

वस्तुतः एक ही नाम वाले विभिन्न आचार्यों के होने तथा उनकी परम्परा सम्बन्धी प्रायः अल्प विवरण उपलब्ध होने के कारण ऐसा भ्रम उत्पन्न हो जाना अस्वाभाविक नहीं है।

ग्रन्थ का मुद्रण त्रुटिरहित तथा साजसज्जा आकर्षक है। ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के सम्पादन, टीका तथा हिन्दी अनुवाद के लिए डॉ० जैन बधाई को बधाई देते हुए हम उनसे अपेक्षा करते हैं कि वे भविष्य में इसी प्रकार प्राचीन जैन साहित्य को प्रकाश में लाते रहेंगे।

साभार प्राप्त

१. **श्री लघु समयसार विधान**-लेखक- श्री राजमल पवैया; संपा०-डॉ० देवेन्द्र कुमार शास्त्री ; प्रकाशक - श्री भरत पवैया ४४, इब्राहिमपुरा; भोपाल; मध्य-प्रदेश, प्रथम संस्करण; अक्टूबर १९९८ ई०; आकार-डिमाई, पृष्ठ ४+७६; मूल्य-८ रूपये.

२. **श्रीभक्तामर विधान** - लेखक एवं संपा० तथा प्रकाशक-पूर्वोक्त; तृतीय संस्करण; अक्टूबर १९९८ ई०; पृष्ठ ४+९२; मूल्य-९ रूपये मात्र.

३. **श्रीबृहद् स्वयम्भू स्तोत्र विधान**- लेखक; संपा० एवं प्रकाशक-पूर्वोक्त; प्रथम संस्करण- अक्टूबर १९९८ ई०; पृ० २२+२३४; मूल्य- २५ रूपये:



जैन जगत

जैनविद्या व्याख्यानमाला सम्पन्न

अन्तर्राष्ट्रीय जैनविद्या अध्ययन केन्द्र, गुजरात विद्यापीठ द्वारा आयोजित व्याख्यान माला में निम्नलिखित विद्वानों के व्याख्यान सम्पन्न हुए

तारीख	वक्ता	विषय
०६-०१-९८	श्री सज्जनभाई तलाटी	जैनदर्शन में आत्मा और कर्मवाद
१६-०१-९८	श्री मनहरभाई शाह	महावीरस्वामी का अर्थशास्त्र
०७-१०-९८	मुनिश्री नंदिघोष विजयजी म०सा०	क्वान्टमवाद और जैनदर्शन
१७-११-९८	डॉ० जितेन्द्रभाई शाह	योग : जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में
१५-१२-९८	पूज्य श्री चित्रभानुजी	वर्तमान संदर्भ में जैनदर्शन का महत्त्व
२६-१२-९८	डॉ० सागरमल जैन	अनेकान्तवाद
१७-२-९९	श्री नवलभाई शाह	साम्प्रत समयनी वैश्विक परिस्थिति अने जैनदर्शन

विदेश के विद्यार्थियों के लिये जैनविद्या का परिचयलक्षी अभ्यासक्रम सम्पन्न

अन्तर्राष्ट्रीय जैन विद्या केन्द्र, गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद द्वारा जैन दर्शन और संस्कृति के क्षेत्र में शिक्षण और संशोधन की परम्परा को सुदृढ़ करने के लिए १३ दिसम्बर, १९९८ से १० जनवरी, १९९९ तक विदेश के विद्यार्थियों के लिये एक परिचयलक्षी अभ्यासक्रम का आयोजन किया गया।

इस अभ्यासक्रम का उद्घाटन १३ दिसम्बर १९९८ को सुबह ९.३० बजे महादेव देसाई महाविद्यालय के उपासनाखंड में विद्वान् संतश्री चित्रभानुजी, गुजरात विधानसभा के अध्यक्ष श्री धीरूभाई शाह, पूज्य श्री आत्मानंदजी, गुजरात विद्यापीठ के कुलपति श्री रामलालभाई परीख, कुलनायकश्री गोविन्दभाई रावल, डॉ० मनहरभाई शाह आदि महानुभावों की उपस्थिति में सम्पन्न हुआ।

इस अभ्यास क्रम में विदेश के तीन विद्यार्थी शामिल हुए थे। जैनधर्म का इतिहास और संस्कृति, जैन आचार और परम्परा, जैन तत्वज्ञान तथा आधुनिक विश्व और जैनविद्या- इन चार अभ्यासक्रमों के अध्यापनकार्य के लिये डॉ० सागरमल जैन, डॉ० प्रमोदाबहन, डॉ० रामजी सिंह, डॉ० भागचन्द जैन, डॉ० सी० वी० रावल, डॉ० एन० एम० कंसारा, डॉ० पूर्णिमाबहन महेता, डॉ० साधनाबहन वोरा, डॉ० रेणुलाल आदि विद्वान् प्राध्यापकों का सहयोग प्राप्त हुआ।

इस अभ्यासक्रम के संदर्भ में विद्यार्थियों के लिए तारंगा, कोबा, आबू, देलवाडा, कुंभारियाजी आदि जैन तीर्थों और कला स्थापत्य के परिचय की दृष्टि से शैक्षणिक प्रवास का भी आयोजन किया गया था।

४ जनवरी, १९९९ के दिन डॉ० रामजी सिंह की अध्यक्षता में 'योगसाधना : जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में' विषय पर एक अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन भी हुआ, जिसमें स्थानीय और अन्य विद्वानों के साथ विदेश के तीन विद्यार्थियों ने भी उत्साह से भाग लिया।

प्रकाशित जैन साहित्य का सूचीकरण

इन्दौर : १ जनवरी - कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर और सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट, भावनगर के संयुक्त तत्त्वावधान में १ जनवरी १९९९ से एक संयुक्त परियोजना का प्रारम्भ किया गया है जिसके अन्तर्गत अब तक प्रकाशित जैन साहित्य का संगणक द्वारा सूचीकरण किया जायेगा। परियोजना के अधिकारियों ने इस सम्बन्ध में सभी विद्वानों, प्रकाशकों, पुस्तकालयों एवं विभिन्न जैन शोध संस्थाओं से सहयोग प्रदान करने का विनम्र आग्रह भी किया है।

अपभ्रंश साहित्य अकादमी

(जैनविद्या संस्थान, दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीर जी)

प्रवेश सूचना

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीर जी द्वारा संचालित अपभ्रंश साहित्य अकादमी द्वारा "पत्राचार प्राकृत सर्टिफिकेट पाठ्यक्रम" प्रारम्भ किया जा रहा है। सत्र १ जुलाई, १९९९ से प्रारम्भ होगा। इसमें प्राकृत संस्कृत, हिन्दी एवं अन्य भाषाओं/विषयों के प्राध्यापक अपभ्रंश, प्राकृत शोधार्थी एवं संस्थानों में कार्यरत विद्वान् सम्मिलित हो सकेंगें।

नियमावली एवं आवेदन पत्र दिनांक १ मार्च, से १५ मार्च, १९९९ तक अकादमी कार्यालय, दिगम्बर जैन नसियाँ भट्टारकजी, सवाई रामसिंह रोड, जयपुर-४ से प्राप्त करें। कार्यालय में आवेदन पत्र पहुंचने की अन्तिम तारिख ३० अप्रैल, १९९९ है।

जैन एकेडमीज इण्टरनेशनल फेडरेशन का संविधान स्वीकृत

मुम्बई - १ जनवरी : श्री सी० एन० संघवी, ट्रस्टी, जैन एकेडमी की अध्यक्षता में स्थानीय सम्राट होटल में जैन एकेडमी और अन्य जैन संगठनों के पदाधिकारियों की एक आवश्यक बैठक सम्पन्न हुई, जिसमें डॉ० लक्ष्मीमल सिंघवी, श्री दीपचन्द भाई गार्डी, श्री धीरज़ भाई शाह, श्री नेमुभाई चन्दरिया, डॉ० कुमारपाल देसाई, श्री कीर्तिभाई दोशी, श्री मणिभाई शाह आदि ५६ विशिष्ट लोगों ने भाग लिया। इस अवसर पर जैन एकेडमीज इण्टरनेशनल फेडरेशन के संविधान को एकमत से स्वीकार किया गया तथा अन्य महत्त्वपूर्ण निर्णय भी लिये गये।

पदमपुरा में पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव सानन्द सम्पन्न

जयपुर के निकट स्थित पदमपुरा के श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र में गत ३१

जनवरी से ५ फरवरी तक परमपूज्य मुनि श्री सुधासागर जी महाराज के पावन सानिध्य में चातुर्दिक जिनालय एवं मानस्तम्भ जिनबिम्ब पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव विभिन्न आयोजनों के साथ सानन्द सम्पन्न हुआ। समारोह के अंतिम दिन ५ फरवरी को विशाल गजरथ यात्रा सम्पन्न हुई और मानस्तम्भ व चातुर्दिक जिनालयों का अभिषेक किया गया। इस दिन प्रदेश के मुख्यमंत्री श्री अशोक गहलोत तथा अन्य विशिष्ट जनों का भी यहां आगमन हुआ। दिनांक ७ फरवरी को इन आयोजनों से जुड़े कार्यकर्ताओं का सम्मान किया गया और उन्हें स्मृति चिन्ह तथा भगवान् पद्मप्रभ का भव्य एवं विशाल चित्र भी भेंट किया गया। इस अवसर पर श्री दिगम्बर जैन तीर्थ क्षेत्र रक्षा कमेटी के अध्यक्ष साहू श्री अशोक कुमार जैन के असामयिक निधन पर उन्हें हार्दिक श्रद्धाञ्जलि भी अर्पित की गयी।

अहिंसा क्रान्ति जनसभा सम्पन्न

युवा संत मुनि श्री तरुणसागर जी महाराज एवं मुनि श्री पुलकसागर जी महाराज के पावन सानिध्य में देहरादून में दि० ७ फरवरी १९९९ को अहिंसा क्रान्ति का आयोजन किया गया। स्थानीय जैन समाज द्वारा आयोजित इस विशाल जनसभा में आस-पास के क्षेत्रों अनेक अहिंसा प्रेमी सन्तों, विद्वानों एवं बुद्धिजीवियों ने सक्रिय रूप से भाग लिया। इस अवसर पर संसद सदस्य श्री कृष्णलाल शर्मा, उपाध्यक्ष एवं प्रवक्ता - भारतीय जनता पार्टी तथा देहरादून व मंसूरी के विधायक गण भी विशेष रूप से उपस्थित रहे।

पुणे में राष्ट्रीय जैन सम्मेलन सम्पन्न

पुणे - १३-१४ फरवरी : पुणे के प्रगतिशील सामाजिक संगठन 'जैन सहयोग' के तत्त्वावधान में पुणे में शनिवार दि० १३ फरवरी को Jain Action-99 के नाम से राष्ट्रीय जैन सम्मेलन का आयोजन किया गया। श्री मिलिन्द फडे के संयोजकत्व में आयोजित कार्यक्रम के दूसरे दिन वर-वधू सम्मेलन का भी कार्यक्रम सफलता पूर्वक सम्पन्न हुआ।

क्षुल्लक जिनेन्द्रवर्णी स्मृति व्याख्यानमाला - ९८

इन्दौर - १९ दिसम्बर १९९८ : कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर के तत्त्वावधान में दि० १९ दिसम्बर को क्षुल्लक श्री जिनेन्द्रवर्णी की स्मृति में एक दिवसीय व्याख्यानमाला -९८ का आयोजन किया गया। इसमें मुख्य वक्ता के रूप में मगध विश्वविद्यालय, बोध गया के कुलपति प्रो० बलबीर सिंह भसीन ने वर्तमान युग में जैनधर्म के सिद्धान्तों की उपयोगिता पर व्याख्यान दिया। कार्यक्रम की अध्यक्षता चौ० चरणसिंह विश्वविद्यालय, मेरठ के कुलपति प्रो० दुर्गाप्रसाद तिवारी ने की। इस अवसर पर भागलपुर विश्वविद्यालय, वीरकुंवर सिंह विश्वविद्यालय, दरभंगा विश्वविद्यालय और मैसूर विश्वविद्यालय के कुलपति तथा बड़ी संख्या में समाज के प्रबुद्धजन उपस्थित थे।

आदितीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव : शिक्षा एवं दर्शन - राष्ट्रीय संगोष्ठी सम्पन्न

कुरुक्षेत्र - १८ जनवरी : आर्यिकारत्न, गणिनी प्रमुख ज्ञानमती माता जी की प्रेरणा से संस्कृत एवं प्राच्य विद्या संस्थान, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र द्वारा भगवान् ऋषभदेव के निर्वाण दिवस के उपलक्ष्य में १६-१७ जनवरी १९९९ को द्विदिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन किया गया। उपाध्याय श्री गुप्ति सागर जी महाराज के सानिध्य में चले दो दिनों की इस संगोष्ठी में देश के प्रमुख विद्वानों द्वारा कुल २३ शोधपत्र प्रस्तुत किये गये। इस अवसर पर उपाध्याय श्री ने विश्वविद्यालय के संस्कृत एवं प्राच्य विद्या संस्थान में जैन अध्ययन केन्द्र की स्थापना में आर्थिक सहयोग देने हेतु एक ट्रस्ट के गठन की घोषणा की। इस ट्रस्ट में १० लाख रूपये के अंशदान की जैन समाज द्वारा तत्काल घोषणा की गयी।

इन्दौर में कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ व्याख्यानमाला सम्पन्न

इन्दौर-२२ फरवरी : कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर द्वारा आयोजित ११वीं वार्षिक व्याख्यानमाला दि० २० फरवरी को आयोजित की गयी। तिलकामांझी भागलपुर विश्वविद्यालय के कुलपति प्रो० शैलेन्द्रनाथ श्रीवास्तव ने इस व्याख्यानमाला की अध्यक्षता की। डॉ० भागचन्द जैन 'भास्कर', नागपुर विश्वविद्यालय ने 'वर्तमान युग में जैनधर्म' विषय पर अपने विचार व्यक्त किये। इस कार्यक्रम में बड़ी संख्या में स्थानीय विद्वान् उपस्थित रहे।

अहिंसा इण्टरनेशनल के १९९८ के वार्षिक पुरस्कार के परिणाम घोषित

प्रसिद्ध गांधीवादी लेखक श्री यशपाल जैन की अध्यक्षता में गठित अहिंसा इन्टरनेशनल की चयन-समिति द्वारा वार्षिक पुरस्कारों (वर्ष १९९८) के घोषित परिणाम इस प्रकार हैं :

१. अहिंसा इन्टरनेशनल डिप्टीमल आदीश्वर लाल जैन साहित्य पुरस्कार ३१०००रु०/

विशिष्ट विद्वान् डॉ० **देवेन्द्र कुमार जैन शास्त्री, नीमच।** जैन साहित्य में शोध एवं संशोधन वैशिष्ट्य।

२. अहिंसा इन्टरनेशनल भगवानदास शोभालाल जैन विशेष शाकाहार पुरस्कार - १५०००रु०/

प्रतिष्ठित विद्वान्, चिन्तक एवं लेखक **डा० नेमीचन्द जैन, इन्दौर।** संपादक, "तीर्थंकर" एवं "शाकाहार-क्रान्ति"। अहिंसा, शाकाहार एवं जीवरक्षा पर विराट लेखन, चिन्तन एवं मानसिक चेतना जागरण वैशिष्ट्य।

३. अहिंसा इन्टरनेशनल भगवानदास शोभालाल जैन शाकाहार पुरस्कार- ११०००रु०/-

कर्मठ, निष्ठावान, आन्दोलनकारी कार्यकर्ता श्री सुरेशचन्द जैन, जबलपुर।

४. अहिंसा इन्टरनेशनल रघुबीर सिंह जैन जीवरक्षा पुरस्कार-११०००रु०/
निडर, कर्मठ, निष्ठावान आन्दोलनकारी कार्यकर्ता श्री मुहम्मद शफीक खान, सागर।

५. अहिंसा इन्टरनेशनल गोल्डनजुबली फाउंडेशन पत्रकारिता पुरस्कार-५१००रु०/
डा० नीलम जैन , सहारनपुर। जैन महिलादर्श की प्रधान संपादिका एवं समाजसेवी, विदुषी पत्रकार, लेखक, वक्ता एवं सफल कार्यक्रम संयोजक।
पुरस्कार मार्च/अप्रैल १९९९ में नई दिल्ली में भेंट किये जाएंगे।

श्री गणेश प्रसाद वर्णी स्मृति साहित्य पुरस्कार

श्री स्याद्वाद महाविद्यालय, भदैनी, वाराणसी की ओर से अपने संस्थापक पूज्य श्री गणेश प्रसाद जी वर्णी की स्मृति में वर्ष १९९९ के पुरस्कार के लिये जैनधर्म-दर्शन, सिद्धान्त, साहित्य, समाज, संस्कृति, भाषा एवं इतिहासविषयक मौलिक, सृजनात्मक, चिन्तन, अनुसंधानात्मक, शास्त्रीय परम्परा युक्त कृति पर पुरस्कारार्थ ४ प्रतियाँ ३० अप्रैल ९९ तक आमंत्रित हैं। इस पुरंस्कार में ५००१/- रूपया तथा प्रशस्ति पत्र दिया जायेगा। १९९६ के बाद प्रकाशित पुस्तकें ही इसमें सम्मिलित की जायेगीं। नियमावली निम्न पते पर उपलब्ध है।

(डा० फूलचन्द जैन "प्रेमी")
संयोजक, श्री वर्णी स्मृति साहित्य पुरस्कार समिति
श्री स्याद्वाद महाविद्यालय, भदैनी, वाराणसी

पंचाल शोध संस्थान, कानपुर का तेरहवां सम्मेलन कायमगंज में

१३-१४ मार्च १९९९ : पंचाल शोध संस्थान, कानपुर का तेरहवां वार्षिक अधिवेशन कायमगंज, जिला फर्रुखाबाद, उत्तरप्रदेश में दि० १३-१४ मार्च १९९९ को आयोजित किया गया जिसमें बड़ी संख्या में विद्वानों के भाग लेने की सूचना मिली है। इस अधिवेशन में क्षेत्र की विशिष्ट विभूतियों को पंचालरत्न, पंचालभूषण, पंचालश्री एवं साहित्यवारिधि के अलंकरणों से सम्मानित किया गया। महान् साहित्यप्रेमी और प्रसिद्ध उद्योगपति श्री हजारीमल जी बांठिया की प्रेरणा से भारत और इटली की सरकारों के सहयोग से इसी वर्ष से पंचाल जनपद की राजधानी काम्पिल्य (कंपिल) में बड़े पैमाने पर ४ वर्षीय उत्खनन कार्य भी आरम्भ होने जा रहा है। भारत और इटली के शीर्षस्थ पुरातत्त्वविदों के निर्देश में प्रारम्भ हो रहे इस उत्खनन से भारतीय सभ्यता के इतिहास पर नवीन प्रकाश पड़ने की पूरी संभावना है।

डॉ० शैलेन्द्र रस्तोगी ज्ञानोदय पुरस्कार - ९८ से सम्मानित

श्रीमती शांतादेवी रतनलालजी बोबरा की स्मृति में श्री सूरजमल जी बोबरा द्वारा वर्ष १९९८ में कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर के माध्यम से इतिहास एवं पुरातत्त्व के क्षेत्र

में मौलिक शोध को प्रोत्साहन देने हेतु ज्ञानोदय पुरस्कार की स्थापना की गयी है। वर्ष १९९८ के पुरस्कार हेतु रामकथा संग्रहालय, अयोध्या के पूर्व निदेशक, प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० शैलेन्द्र कुमार रस्तोगी की कृति - **जैनधर्म कलाप्राण ऋषभदेव और उनके अभिलेखीय साक्ष्य** को चुना गया है। कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ द्वारा शीघ्र आयोजित होने वाले समारोह में डॉ० रस्तोगी को ५ हजार रूपये नकद और प्रशस्ति पत्र पुरस्कार के रूप में प्रदान कर सम्मानित किया जायेगा।

श्री अ० भा० साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर के अन्तर्गत
स्व० प्रदीप कुमार रामपुरिया स्मृति साहित्य पुरस्कार
एवं
स्व० चम्पालाल सांड़ स्मृति साहित्य पुरस्कार प्रतियोगिता १९९८-९९

(स्व० प्रदीप कुमार रामपुरिया स्मृति साहित्य पुरस्कार में पुरस्कृत की जाने वाली रचनाएं)

जैन धर्म और दर्शन, जैन इतिहास, कला एवं संस्कृति तथा जैन साहित्य (काव्य, कथा, निबन्ध, नाटक, संस्मरण एवं जीवनी) आदि के सम्बन्ध में लिखित कोई भी मौलिक ग्रन्थ ।

(स्व० चम्पालाल सांड साहित्य पुरस्कार में पुरस्कृत की जाने वाली रचनाएं)

नैतिकता, सदाचार, संस्कृति सम्बन्धित किसी भी उपाधि सापेक्ष एवं उपाधि निरपेक्ष लिखित शोध प्रबन्ध, शोध समीक्षा, कथा एवं सम्पादित-अनुवादित ग्रन्थ ।

पुरस्कार हेतु प्रकाशित अथवा अप्रकाशित दोनों ही प्रकारों की कृतियाँ प्रस्तुत की जा सकती हैं। जनवरी १९९३ से पूर्व प्रकाशित कृतियाँ इन पुरस्कारों हेतु स्वीकार नहीं की जायेंगी। कृतियाँ हिन्दी, अंग्रेजी या गुजराती-किसी भी भाषा में होनी चाहिए। कृतियाँ भेजने की अंतिम तिथि २८ फरवरी १९९९ है। पुरस्कार हेतु अप्रकाशित या प्रकाशित कृतियों की चार-चार प्रतियाँ भेजनी आवश्यक है। प्रकाशित कृतियाँ लौटाई नहीं जायेंगी। चयनित कृति पर उसके लेखक को स्व० प्रदीप कुमार रामपुरिया स्मृति साहित्य पुरस्कार स्वरूप ५१०००/- रूपये नकद और प्रशस्ति पत्र दिये जायेंगे। स्व० श्री चम्पालाल सांड पुरस्कार प्राप्त कृति के लेखक को भी इसी प्रकार उतनी ही धनराशि और प्रशस्तिपत्र प्रदान किया जायेगा।

कृतियाँ निम्नलिखित पते पर भेजें -

डॉ० सुरेश सिसोदिया
प्रभारी एवं शोध अधिकारी
आगम, अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान
पद्मिनी मार्ग, राणाप्रतापनगर
उदयपुर - राजस्थान ३१३००२

श्री सोहनराज छाजेड़
'इन्स्टीट्यूट ऑफ चार्टर्ड एकाउण्टेंट्स आफ इंडिया'
के अध्यक्ष निर्वाचित

देश के जाने-माने चार्टर्ड एकाउण्टेंट श्री सोहनराज (एस०पी०) छाजेड़ को वर्ष १९९९-२००० के लिए 'इन्स्टिट्यूट ऑफ चार्टर्ड एकाउन्टेट्स आफ इंडिया का' अध्यक्ष नियुक्त किया गया है। मूलत: पाली (राजस्थान) के रहने वाले ६० वर्षीय श्री छाजेड़ कामर्स के स्नातक हैं । आपने एल-एल० बी० किया है और एफ० सी० ए० हैं। अध्यक्ष-पद पर नियुक्ति से पूर्व आप उपरोक्त संस्था के उपाध्यक्ष रहे हैं। श्री छाजेड़ की इस गौरवपूर्ण उपलब्धि पर हम पार्श्वनाथ विद्यापीठ परिवार के सदस्य उनका हार्दिक अभिनंदन करते हैं।

शोक समाचार

डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल का निधन

जयपुर - ४ दिसम्बर : जैन विद्या के अनन्य उपासक डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल का जयपुर में दि० ३ दिसम्बर को निधन हो गया। प्राचीन पाण्डुलिपियों की खोज; उनका संरक्षण, सूचीकरणं, अनुवाद एवं उनके अध्ययन में पूर्ण समर्पित डॉ० कासलीवाल ने ३५ से अधिक ग्रन्थों की रचना की। इसके अतिरिक्त २०० से अधिक लेख एवं विभिन्न स्मारिकाओं एवं अभिनन्दन ग्रन्थों का उन्होंने सम्पादन का कार्य भी किया। पार्श्वनाथ विद्यापीठ की ओर से डॉ० कासलीवाल को हार्दिक श्रद्धांजलि।

साहू अशोक कुमार जैन दिवंगत

नई दिल्ली - ५ फरवरी : दिगम्बर जैन समाज के सर्वमान्य नेता, देश के प्रमुख उद्योगपति, अनेकों धार्मिक और सामाजिक संस्थाओं के संरक्षक साहू अशोक कुमार जैन का दिनांक ५ फरवरी को क्वीवलैण्ड (अमेरिका) में निधन हो गया। आप कुछ समय से गम्भीर रूप से अस्वस्थ थे। आपके निधन से न केवल जैन समाज बल्कि देश की अपूरणीय क्षति हुई है। पार्श्वनाथ विद्याश्रम परिवार स्व० श्री साहू जी के निधन पर उन्हें हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करता है।

डॉ० नथमल टांटिया नहीं रहे

कलकत्ता - २१ फरवरी : श्रमण विद्या के मूर्धन्य विद्वान्, विश्वविश्रुत दार्शनिक और पार्श्वनाथ विद्यापीठ के प्रथम शोध-छात्र डॉ० नथमल टांटिया का शनिवार २० फरवरी को कलकत्ता में स्वर्गवास हो गया। आप पिछले कुछ दिनों से अस्वस्थ थे।

अपने जीवन के अंतिम समय तक आप श्रमण विद्या के अध्ययन और शोध में लगे रहे। आप एकमात्र ऐसे विद्वान् थे जिनकी जैन और बौद्ध धर्म दोनों में समान रूप से तलस्पर्शी पैठ थी। देश-विदेश में श्रमण विद्या के अध्ययन प्रति लोगों में रुचि पैदा करने के लिये आपने अथक परिश्रम किया। पार्श्वनाथ विद्यापीठ के प्रति आपका विशेष स्नेह रहा है। आप विभिन्न अवसरों पर प्रायः यहां पधारते रहे हैं। आपके निधन से श्रमण विद्या के अध्ययन-संशोधन के क्षेत्र में जो क्षति हुई है, उसकी पूर्ति होना प्रायः असंभव ही है। आपके निधन का समाचार सुनते ही विद्यापीठ में एक शोकसभा आयोजित की गयी उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित करने के पश्चात् उस दिन अवकाश घोषित कर दिया गया।

श्री हरखचन्द जी नाहटा दिवंगत

नई दिल्ली- २२ फरवरी : श्री अखिल भारतीय जैन श्वेताम्बर खरतरगच्छ महासंघ के अध्यक्ष, श्वेताम्बर जैन समाज के शीर्ष नेता तथा सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री भँवरलाल जी नाहटा के अनुज श्री हरखचन्द जी नाहटा का रविवार २१ फरवरी को नई दिल्ली में हृदयाघात से निधन हो गया। १८ जुलाई १९३६ को बीकानेर में एक लब्ध प्रतिष्ठित तथा सुसंस्कृत परिवार में जन्मे श्री नाहटा जी बचपन से ही मेधावी तथा दृढ़ संकल्पी थे। उन्होंने अपने पारम्परिक व्यवसाय से हटकर भूपरिवहन, फिल्म निर्माण, फाइनेन्स तथा भूमि जैसे नये क्षेत्रों में पदार्पण किया और अति शीघ्र ही उन्नति के शिखर पर पहुँच गये।

श्री श्वेताम्बर मूर्तिपूजक जैन तीर्थरक्षा ट्रस्ट, आनन्दजी कल्याण जी की पेढ़ी, श्री विचक्षण सेवा केन्द्र, प्राकृत भारती अकादमी जैसी ६० से ज्यादा संस्थाओं से जुड़े श्री नाहटा जी ने मंदिर, उपाश्रय, दादावाड़ी, स्कूल, धर्मशाला, अस्पताल आदि के निर्माण तथा संचालन में यथेष्ट योगदान दिया। हंसमुख और दृढ़प्रतिज्ञ श्री नाहटा जी को उनकी बहुविध अमूल्य सेवाओं की स्वीकृति तथा कृतज्ञतास्वरूप विभिन्न राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय अलंकरणों तथा पदवियों से सम्मानित किया गया। वस्तुतः श्री नाहटा जी एक संस्था स्वरूप व्यक्ति थे जिनके देहावसान से एक अपूरणीय क्षति हुई है। पार्श्वनाथ विद्यापीठ श्री नाहटाजी के असामयिक निधन से मर्माहत है और इस महान शोक की घड़ी में उन्हें हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए उनके परिवार के साथ है। छोटी दादावाड़ी, साउथ एक्सटेंशन, द्वितीय, नई दिल्ली में आयोजित विशाल श्रद्धांजलि सभा में समाज के सभी वर्गों के प्रतिनिधियों, राजनेताओं आदि ने श्री नाहटा को भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित की।

पञ्चाशकप्रकरणम् पुरस्कृत

पार्श्वनाथ विद्यापीठ के लिये यह अत्यन्त हर्ष और गौरव का विषय है कि उसके द्वारा प्रकाशित **पञ्चाशकप्रकरणम्** को उत्तरप्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ द्वारा पुरस्कृत किया गया है। आचार्य हरिभद्रसूरि द्वारा विरचित इस कृति का सम्पादन प्रो० सागरमल जैन एवं कमलेश कुमार जैन तथा इसका हिन्दी अनुवाद गुजरात विश्वविद्यालय, अहमदाबाद के संस्कृत-प्राकृत विभाग के प्रवक्ता, युवाविद्वान् डॉ० दीनानाथ शर्मा ने किया है। ज्ञातव्य है कि विद्यापीठ द्वारा प्रकाशित विभिन्न ग्रन्थों को अबतक कई पुरस्कार प्राप्त हो चुके हैं।

पार्श्वनाथ विद्यापीठ द्वारा
निबन्ध -प्रतियोगिता का आयोजन

उद्देश्य - पार्श्वनाथ विद्यापीठ नवयुवकों के बौद्धिक विकास एवं जैन धर्म दर्शन के प्रति उनकी जागरूकता को बनाये रखने के लिए एक निबन्ध प्रतियोगिता का आयोजन कर रहा है।

पार्श्वनाथ विद्यापीठ लम्बे समय से यह अनुभव कर रहा था कि लोगों को जैन धर्म दर्शन की यथार्थ जानकारी होनी चाहिये, क्योंकि जैन दर्शन में विश्व दर्शन बनने की क्षमता है।

इस निबन्ध प्रतियोगिता का एक उद्देश्य यह भी है कि लोगों में पठन-पाठन एवं शोध के प्रति रुचि पैदा की जाय, जो विचारों के आदान-प्रदान के माध्यम से ही सम्भव है।

कौन प्रतियोगी हो सकते हैं- कोई भी व्यक्ति चाहे वह किसी भी धर्म, जाति, सम्प्रदाय का हो या किसी भी उम्र का हो, इस प्रतियोगिता में भाग ले सकता है। पार्श्वनाथ विद्यापीठ के कर्मचारियों एवं उनके निकट सम्बन्धियों के लिये यह प्रतियोगिता प्रतिबन्धित हैं।

विषय

२१ वीं शताब्दी में जैन धर्म की प्रासंगिकता

आयुवर्ग के आधार पर निबन्ध के लिए निर्धारित पृष्ठ संख्या :

१. १८ वर्ष तक -डबल स्पेश में फुलस्केप साइज में टंकित (Typed) पूरे चार पेज।

२. १८ वर्ष के ऊपर-डबल स्पेस में फुलस्केप साइज में टंकित (Typed) पूरे आठ पेज।

पुरस्कार : निर्णायक मण्डल द्वारा चयनित प्रतियोगी को निम्नानुसार पुरस्कार देय होगा -

१. १८ वर्ष तक के प्रतियोगी के लिए	**- प्रथम पुरस्कार**	**- २५०० रु.**
	- द्वितीय पुरस्कार	**- १५०० रु.**
	- तृतीय पुरस्कार	**- १००० रु.**
२. १८ वर्ष के ऊपर के प्रतियोगी के लिए	**- प्रथम पुरस्कार**	**- २५०० रु.**
	- द्वितीय पुरस्कार	**- १५०० रु.**
	- तृतीय पुरस्कार	**- १००० रु.**

प्रतियोगिता की भाषा- निबन्ध हिन्दी या अंग्रेजी दोनों भाषाओं में हो सकते हैं।

चयन की प्रक्रिया के निर्धानित मानदण्ड :

१. निबन्ध की गुणवत्ता, विचारों की स्पष्टता एवं उनका सम्यक् प्रस्तुतिकरण।

२. निबन्ध में अपने कथन का सप्रमाण प्रस्तुतीकरण एवं आवश्यक स्थलों पर मूल ग्रन्थों से सन्दर्भ।

३. भाषा का स्तर

निर्णायक मण्डल :

१. **प्रोफेसर सागरमल जैन** - जिनशासन-गौरव, जैन धम-दर्शन के अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त विद्वान् एवं वाराणसी स्थित पार्श्वनाथ विद्यापीठ के मानद् निदेशक, राष्ट्रीय स्तर की अनेक संगोष्ठियों में प्रतिभागी। जैन धर्म-दर्शन की ३० से अधिक पुस्तकों तथा १५० से अधिक शोध-निबन्धों के लेखक। आपके निर्देशन में ३० से अधिक शोध छात्रों ने पी-एच०डी० की उपाधि प्राप्त की है।

२. **प्रोफेसर सुदर्शनलाल जैन**- जैन धर्म-दर्शन के विश्वविश्रुत विद्वान्, सम्प्रति काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में संस्कृत विभाग में प्रोफेसर, जैन धर्म पर अनेक पुस्तकों के लेखक, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की अनेक संगोष्ठियों में प्रतिभागी। आपके निर्देशन में १५ से अधिक शोध छात्रों ने पी-एच०डी० की उपाधि प्राप्त की है।

३. **डॉ० धर्मचन्द जैन**- जैन धर्म-दर्शन के प्रख्यात विद्वान्, सम्प्रति जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर में संस्कृत विभाग में रीडर, जैन-न्याय के गहन अध्येता एवं जैनधर्म पर कतिपय विशिष्ट ग्रन्थों के लेखक आपके निर्देशन में ६ से अधिक छात्रों ने पी-एच०डी० की उपाधि प्राप्त की है।

चयन-प्रक्रिया

१. भेजे गये निबन्ध पार्श्वनाथ विद्यापीठ को दिनांक ३० जून, १९९९ तक स्वीकृत होंगे। समस्त निबन्धों की फोटो कॉपी बनायी जायेगी तथा प्रतियोगियों के उम्रवर्ग के आधार उन्हें एक विशिष्ट कोड नं० दिया जायेगा।

२. निबन्धों की फोटो प्रतियाँ (बिना लेखक के नाम के) जिनमें कोड नं० अंकित होगा, प्रत्येक निर्णायक को भेजी जायेगी।

३. निर्णायकों द्वारा अंकित निबन्ध प्राप्त होने पर उनमें क्रमशः प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय पुरस्कार के लिए चयनित प्रतियोगियों की घोषणा की जायेगी।

४. विजेता प्रतियोगियों के निबन्धों को पार्श्वनाथ विद्यापीठ से प्रकाशित होने वाली शोध-पत्रिका **श्रमण** के सन् २००० के प्रथम अंक में प्रकाशित किया जायेगा।

५. विजेता प्रतियोगी को पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी में एक सादे समारोह के अन्तर्गत सम्मानित किया जायेगा।

नोटः कृपया निबन्ध के साथ अपनी पासपोर्ट साइज का फोटो एवम् हाईस्कूल सर्टिफिकेट की फोटो प्रति (XeroxCopy) तथा एक सादे कागज पर अपने पूरे पते सहित अपनी शैक्षिक योग्यता का विवरण अवश्य भेजें।

ESSAY COMPETITION

PREAMBLE :

As part of its commitment to the progressive development of the youth and their involvement with Jainism, Parshvanath Vidyapeeth is organizing an essay competition. In keeping with the vision and aims of the institute to bring Jainism closer to the people and the foster learning about Jainism, It is felt that an essay competition leads to reading, research and practice of the knowledge. Newer ideas also get generated when one gives free rein to one,s thoughts.

WHO CAN PARTICIPATE:

All persons of any age group or religion can participate. The competition is however, not open to Parshvanath Vidyapeeth employees or their first kith-&-kin.

THE TOPIC. "RELEVANCE OF JAINISM IN THE 21ST CENTURY."

SUBMISSION GROUPS :

1. Age upto 18years : Length of essay at least 4 pages, typed double spaced using 12 points font.
2. Age over 18 years : Length of essay at least 8 pages, typed, double spaced using 12 point font.

PRIZES : (Indian Rupees.)

For the best entries as decided by the Judges, irrespective of the language of submission:

Age Group	First	Second	Third
Age up to 18 Years	2500	1500	1000
Age over 18 years	2500	1500	1000

LANGUAGES :

The essay can be in Hindi or English.

EVALUATION CRITERIA :

- Quality and clarity of Expression, thought, presentation and originality.
- Quotations from original texts where relevant is not barred.
- Quality of language.

THE JUDGES:

1. **Prof. Sagarmal Jain,** Director Emeritus, Parshvanath Vidyapeeth, Varanasi, and internationally famed scholar of Jaina Philosophy and religion. He has represented Jainism many times in abrod in Parliament of world Religions etc.He has authored more than 30 books on different aspects of Jaina Philosophy and Religion along with 150 research papres. 30 scholars have obtained their Ph.D. degrees under his supervision.

2. **Prof. Sudarshan Lal Jain,** Professor, Department of Sanskrit, Banaras Hindu University. A renowned scholar of Jaina Philosophy. He has contributed a lot of the Jaina philosophy by writing some important books and a number of papers. More than 15 scholars have obtained their Ph.D. degrees under his supervision.

3. **Dr. Dharm Chand Jain,** Reader, Department of Sanskrit, Jodhpur university and a well known scholar of Jaina Philosophy and Religion. He has authored a number of books covering different aspects of Jaina Philosophy. Six scholars have obtained their Ph.D. degrees under his supervision.

THE PROCEDURE

- The written essays shall be received by Parshvanath Vidyapeeth up to 3--6-1999. Photocopies of all essays shall be made, a unique number. Being assigned o each essay identifying at the same time the age group.
- The Photocopies (without the author's name) bearing the unique number shall be sent to each of the Judges for marking.
- Upon receipt back of the duly marked essays, the marks compilation shall be done and the winners notified by a letter.
- The winning articles shall be published in first edition of the SHRAMAN in the year 2000.
- The winners shall be facilitated in a function at Parshvanath Vidyapeeth and prize money will be given.

Note - candidate must attach his passport size photograph along with his bio-date with the Essay.